बरगद की बेटी

नीलाभ प्रकाशन गृह

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह
५, खुसरो बाग़ रोड,
इलाहाबाद।

प्रथम संस्करण
मूल्य ३)

मुद्रक
हरप्रसाद बाजपेयी
कृष्णा प्रेस, २६ हीवेट रोड,
इलाहाबाद।

उर्दू में लिखते लिखते, जिनकी कविता के माधुर्य्य और संगीत ने मुझे हिन्दी की ओर प्रेरित किया, उन्हीं कवियित्री **महादेवी वर्मा** को सादर और साभार !

विज्ञापन

श्री उपेन्द्र नाथ अश्क के कहानी और नाटक संग्रहों के पश्चात उनके नवीन खंड काव्य "बरगद की बेटी" को लेकर पाठकों के समक्ष उपस्थित होने में हमें विशेष प्रसन्नता का आभास हो रहा है ।

अश्क जी सिद्धहस्त कहानी लेखक और कुशल नाटककार ही नहीं, भाव-प्रवण कवि भी हैं । जिन पाठकों ने उनके कविता संग्रह 'प्रातः दीप' और 'ऊर्म्मियां' देखे हैं, वे उनके कवि की सहृदयता, समवेदन-शीलता और अनुभूति की विशालता से परिचित होंगे । हिन्दी कविता के ठहरे रुके वातावरण में 'बरगद की बेटी' की गतिशीलता स्वच्छ बयार के झोंके सी पाठकों के मन-प्राण को छू लेगी ।

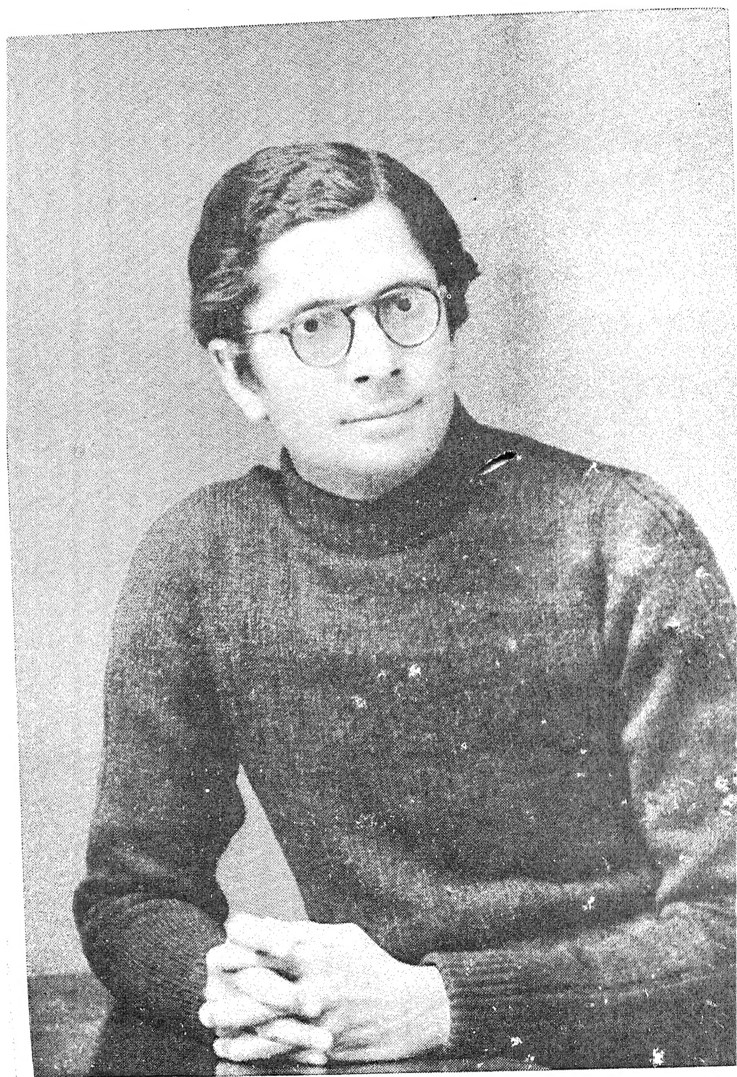
हिन्दी के प्रख्यात गल्पकार श्री यशपाल की भूमिका पद्य कथा का ही मूल्यांकन नहीं करती वरन् हमारे आलोचकों के सामने नये मान-दण्ड भी रखती है ।

पुस्तक का कवर-डिज़ाइन प्रयाग के उदीयमान कलाकार श्री जगदीश गुप्त ने बनाया है । श्री गुप्त की चित्रकला को उनके कवि का सहयोग सदा मिला है । इस सुन्दर आवरण-चित्र के लिये हम उनके आभारी हैं ।

कवर डिज़ाइन और पुस्तक की सुन्दर छपाई के लिये कृष्ण प्रेस के व्यवस्थापक बधाई के पात्र हैं ।

पाठकों के सहयोग के हम प्रार्थी हैं ।

प्रकाशक



श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

प्रेरणा

१६४० में, जब मैं प्रीत नगर (अमृतसर) में "प्रीत लड़ी" के उर्दू हिन्दी संस्करणों का सम्पादन कर रहा था, मैंने प्रस्तुत पद्य-कथा को लिखना आरम्भ किया था। सात वर्ष बाद, १६४७ में, जब मैं यक्ष्मा से पीड़ित होकर पंचगनी (सितारा) के सेनेटोरियम में पूर्ण-विश्राम लेने को विवश हुआ, मैंने इसे समाप्त कर दिया।

हुआ यों कि जिस रूमानी वातावरण और मनोभाव के अधीन मैंने इसे आरम्भ किया था, वह सहसा मुझ से छिन गया, प्रीत नगर की आज़ाद खुली फिज़ा को छोड़ कर मैं दिल्ली और बम्बई के अति व्यस्त, निविड़ और कोलाहलपूर्ण नागरिक जीवन और सरकारी और फ़िल्मी नौकरियों के चक्कर में फँस गया और यह काव्य अवकाश और शान्ति की प्रतीक्षा में अधूरा पड़ा रहा।

पर आज जब आठ साढ़े आठ वर्ष बाद मैं इसे प्रेस में दे रहा हूँ तो मुझे इस बात का खेद नहीं कि मैं ने इसे उसी समय क्यों न समाप्त कर

दिया। उन दिनों, अपनी उस बहती भावना की रौ में, यदि मैं इसे समाप्त कर देता तो यह एक प्रवाहमयी, पर कच्ची कृति बन जाती और उन समस्त गुणों के बावजूद, जो एक ही बैठक में लिखी गयी प्रवहमान रचना में होते हैं, आज कदाचित् मैं उस से संतुष्ट न हो पाता। इन सात-आठ लम्बे वर्षों की यात्रा में इस कृति ने यदि कुछ खोया है तो बहुत कुछ पाया भी है और आज (कल की बात मैं नहीं कहता) मैं इससे पूर्णतः संतुष्ट हूँ।

"बरगद की बेटी" को लिखने की प्रेरणा मुझे कैसे हुई, इस का निर्धारण करने के लिए, जब मैं इन वर्षों के पार, प्रीत नगर और उस के पूर्व दो तीन वर्षों के अपने स्वतन्त्र-जीवन पर दृष्टि डालता हूँ, तो कई दृश्य एक साथ मेरी आँखों में आ जाते हैं।— बहावलपुर रियासत का वह रेतीला ऊबड़-खाबड़ प्रदेश, जिसे कृषकों के श्रम ने गुलज़ार बना डाला; अबोहर (ज़िला फ़ीरोज़पुर) का वह लम्बा रजबहा, जिस पर मैंने कई शामें गुजारीं; प्रीतनगर की वह नहर; वे करीर की घनी झाड़ियों से लदे, फैले-फैले वीराने; वे भटकी हुई उदास रूहों ऐसे बबूल के पेड़; प्रीतनगर और वैरोके के मध्य बसे हुए मदारी कबीले के स्त्री-पुरुषों के वे नाच और उस मरु का शाद्वल, जाने सदियों से खड़ा, वट का वह महान पेड़ जिस की सघनता और विशालता मन-प्राण में एक विचित्र विस्मय-भरा आतंक उत्पन्न कर देती थी।

मैंने पहाड़ों का सौन्दर्य्य भी देखा है— उन की सूखी, रुंड-मुंड हरी-भरी अथवा हिमावृत चोटियों की फबन के दर्शन किये हैं; सागर की उस महान, विशाल, गहरी, प्रशांत सुन्दरता को भी घंटों बैठे निश्चल निहारा है, पर बहावलपुर, अबोहर और प्रीतनगर के उन वीरानों की खूबसूरती कुछ अजीब, अमिट असर दिमाग़ पर छोड़ गयी है। "बरगद

की बेटी" उसी असर की धुँधली सी, अस्पष्ट छाया है। अस्पष्ट इसलिए कि प्रकृति के सौन्दर्य्य का ठीक ठीक चित्रण न फ़ोटोग्राफ़र के बस में है, न चित्रकार के, न कवि के! वे तो अपने सीमित साधनों के बल पर अपनी कल्पना के समावेश से, उस के प्रतिक्षण बदलते हुए स्वभाव का एक आध मूड (*mood*) ही पकड़ पाते हैं!

एक बार मैं अखनूर गया। अखनूर जम्मू से १८ मील की दूरी पर, हिमालय की तराई में, चनाब नदी के किनारे बसा, एक अति पुरातन कस्बा है। दिसम्बर का महीना था, शाम का वक्त। मैं सैर को निकल गया। एक गहरे और विशाल, पर उस समय सूखे, पहाड़ी नाले के बड़े-बड़े श्वेत, मटमैले, भूरे और नीले पत्थरों पर खड़े होकर मैंने इर्द-गिर्द नज़र दौड़ायी— नाले के पार की निकट-पहाड़ियों को धुँधली नीलाहटों ने अपने आँचल में ले लिया था और वे फैल कर सारी फिज़ा पर छा गयी थीं और दूर हिमाद्रि के हिममंडित शिखरों पर अस्तोन्मुख सूरज की केसरी चमक रेखा-गणित की अजीब-गरीब तिकोनें और आयतें बना रही थी और वे नीले-नीले धुँधलके नीचे से उठकर उन दमकती तिकोनों और आयतों को क्षण-क्षण डुबाये जा रहे थे। तब नाले के उन पत्थरों पर खड़े-खड़े, उस अपरिमित विस्तार, उस सीमाहीन उत्कर्ष, उस अपूर्व सौन्दर्य्य को देख कर कुछ ऐसा प्रभाव मन पर हुआ कि अखनूर से आने के बाद मैं उस समय तक चैन न पा सका, जब तक मैंने, जहाँ तक नाटक की सीमाएँ आज्ञा देती थी, उसे अपने नाटक "क़ैद" * में नहीं बाँध दिया। विस्तार और

---

*क़ैद—अश्क जी का यह नाटक उर्दू में "क़ैदे-हयात" (जीवन-कारा) के नाम से लोक-प्रिय हुआ। रेडियो से कई बार 'कैद' के नाम से ब्राडकास्ट हुआ। हिन्दी में यह उनके आगामी नाटक-संग्रह "उड़ान" में आ रहा है। नाटकीय संघर्ष, मनोरंजकता, दार्शनिकता, सौन्दर्य्य और प्रणय की अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह अश्कजी का सुन्दरतम नाटक है। (प्रकाशक)

उत्कर्ष, सौन्दर्य्य और आश्चर्य्य-मिश्रित आतंक का कुछ वैसा ही आभास मुझे प्रीत नगर की उन उदास एकाकी संध्याओं में, उन निर्जन निःस्वन वीरानों में घूमते हुए मिला। उसी आभास ने धीरे-धीरे इस पद्य-कथा का रूप धर लिया।

परन्तु इस प्राकृतिक प्रेरणा के होते भी मैं यह लम्बी पद्य-मय कहानी कभी आरम्भ न करता यदि मुझे एक अपरिचित स्नेही का प्रोत्साहन-भरा पत्र न मिलता।

मैंने उन दिनों "ओ नीम" के नाम से एक लम्बी कविता लिखी थी। कविता में कहानी का भी अंश था और वह 'प्रीत लड़ी' ही में छपी थी। उसे पढ़ कर टीकमगढ़ से श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने मुझे एक पत्र लिखा, जिस में उन्हों ने कविता की बड़ी प्रशंसा की और कहा कि ऐसी सुन्दर चीज़ मैंने 'विशाल भारत' में क्यों न भेजी। साथ में उन्हों ने अपने एक सहकारी श्री प्रयाग नारायण त्रिपाठी का निम्न-लिखित पत्र भेजा :—

टीकमगढ़
२५-१-४०

प्रिय अश्क जी,

प्रणाम। जनवरी, ४० की प्रीत लड़ी में आप की "ओ नीम" कविता देखने का सौभाग्य मिला। इतनी सुन्दर और हृदय हिला देने वाली रचना के लिए मेरी बधाई स्वीकार कीजिए। शब्दों की ग़रीबी के कारण हृदय के भावों को ठीक-ठीक व्यक्त न कर सकूँगा। अतः शब्दों के आवरण में ढकी भावना को आप ग्रहण करने की कृपा करें।

प्रेरणा

आप की कविता मुझे क्यों प्रिय लगी, इस का कारण है। मेरा छोटा सा गाँव है। गाँव में मिट्टी का नन्हा सा झोंपड़ा है, झोंपड़े के सामने दो वयोवृद्ध नीम के पेड़ हैं। उन दो पेड़ों की छाया ही में पल कर इतना बड़ा हुआ हूँ। उन पेड़ों में जीवन की कितनी ही करुण-मधुर स्मृतियाँ छिपी हुई हैं। अब भी उन की याद से आँसू उमड़ पड़ते है। अतः नीम के प्रति आपने जो दुलार और करुणा भरी श्रद्धांजली अर्पित की है, उस में मैं आप के साथ हूँ.........

नयनों में उसके यौवन की
स्वर्णिम ऊषा इठलायी थी
ओठों ने उस के फूलों की
शायद मुस्कान चुरायी थी।

इन पंक्तियों में इतनी सरलता से सौन्दर्य्य का चित्रण आप ने किया है कि मैं दंग रह गया हूँ। लालित्य और मधुरता को कूट-कूट कर भर दिया है।

वेदना और बेबसी का जो खाका "लेकिन इस दुनिया में उल्फ़त तुलती है धन के तोलों में!" इत्यादि पंक्तियों में खींचा है वह हृदय में बेचैनी और आग पैदा कर देता है और सम्पत्ति व सत्ता के प्रति विद्रोह की भावना प्रबल हो उठती है।

सब से अधिक सुन्दर मुझे आप की कविता की भाषा और उस का सहज एवं निर्बाध प्रवाह लगा। आप की कितनी ही रचनाएँ पढ़ चुका हूँ और उन्हें पसन्द भी करता रहा हूँ, पर इस रचना से आप की भाषा ने एक नयी ही दिशा ग्रहण की है। वह कुछ-कुछ ढालुआँ ज़मीन पर बहने वाली सरिता की मृदु-ध्वनि और मन्थर-गति के समान प्रतीत हुई है।

आपकी इस कविता को पढ़ कर मुझे शैली (*Shelley*) के ये शब्द जो कवि के प्रति कहे गये हैं, याद आ गये :—

He learns in suffering.
What he teaches in song.

आशा है आप सानन्द हैं।

विनीत
प्रयाग नारायण त्रिपाठी

मैंने "ओ नीम" नयी-नयी लिखी थी। उन दिनों मुझे वह बहुत अच्छी लगती थी। त्रिपाठी जी के पत्र को पढ़ कर मुझे कुछ ऐसा प्रोत्साहन मिला कि मैंने तत्काल एक दूसरी लम्बी कविता 'नजमा' के शीर्षक से लिखनी शुरू कर दी। वही 'नजमा' 'लहराँ' और फिर 'बरगद की बेटी' बनी!

पता नहीं त्रिपाठी जी आज-कल कहाँ हैं। यह भी नहीं मालूम कि उन्हें वह कविता आज भी उतनी पसन्द है कि नहीं। एक आध पत्र के अतिरिक्त फिर उन से कभी पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। लेकिन उन के इस पत्र के लिए मैं उन का आभारी हूँ। इसलिए नहीं कि उन्हों ने उस कविता को पसन्द किया, बल्कि इसलिए कि इस पत्र ने मुझे 'नीम' ही की भाँति प्रीतनगर के उस मरु, उस पर छानेवाली उन उदास शामों और उन पर भी जैसे छाये से उस महान बरगद को कविता मे बाँधने की प्रेरणा दी।

इन सात वर्षों में मेरे निकट-स्नेहियों ने काव्य को सुना है और मुझे स्पष्ट आलोचना और बहुमूल्य परामर्श दिये हैं। भाई शिवदान सिंह चौहान, गिरजाकुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह और यशपाल जी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ—उन की आलोचनाओं के प्रति भी और उन के परामर्शों के लिए भी। भाई यशपाल का आभार और भी अधिक है कि न

केवल उन्हों ने आलोचना और परामर्श दिये वरन् 'बरगद की बेटी' का प्रथम परिचय देते हुए उस का मूल्यांकन भी किया।

यशपाल जी ने अपनी भूमिका में जो प्रश्न उठाये हैं, मित्रों और आलोचकों ने जो सम्मतियाँ दी हैं, उन को लेकर साहित्य, कला तथा प्रगतिशीलता के सम्बंध में अपना दृष्टिकोण देने का भी विचार था। पर अब इस मोह को किसी और समय के लिए उठा रखता हूँ।

कुछ शब्द और प्रयोग, जो खड़ी बोली में प्रचलित नहीं, जान-बूझ कर मैंने ज्यों के त्यों रहने दिये हैं। पंजाबी वातावरण और मुसलमान पात्र होने से भाषा का उर्दू-मिश्रित होना अनिवार्य्य था। आशा है, हिन्दी-पाठक इस के लिए मुझे क्षमा करेंगे।

प्रयाग
अगस्त, १९४९

—उपेद्रनाथ अश्क

प्रथम परिचय

'बरगद की बेटी' के सार्वजनिक रूप से प्रकाश में आने से पूर्व मुझे उसे जानने का अवसर मिला है। इस लिए पाठकों से उस का प्रथम-परिचय मैं करा रहा हूँ। उस का नाम 'लहरां' है। यदि मेरा बस होता तो मैं उसे पाठकों के सामने इसी नाम से प्रस्तुत करता, पर अश्क ने उस प्रथा का अनुकरण किया है जो सोम के दिन जन्म लेने वाली गुणवती को बरबस 'सोमा' बनाये रखती है। पंजाबी भाषा में बरगद को 'बोह्ड' कहते हैं। बोह्ड के नीचे जन्म लेने के कारण लहरां 'बोहड़ दी धी' कहाती होगी पर काव्य हिन्दी में है इस लिए वह 'बरगद की बेटी' बन गयी।

सम्पर्क होने से पूर्व परिचय पाने में एक हानि है—इस से कौतूहल, वैचित्र्य और आकस्मिक-आनन्द की स्फूर्ति कुछ धीमी और शिथिल हो जाती है, पर लाभ भी पर्य्याप्त हो सकता है। इसी लिए यह परिचय है!

'बरगद की बेटी' पद्य-कहानी है। वह कविता भी है और कहानी

भी। पाठक और आलोचक उसे दोनों ही कसौटियों पर जाँचेंगे। प्रायः एक दोहे, छन्द या शेर में मुक्त-उछ्च्वास जिस पूर्णता और वेग से प्रकट होता है, पूरी नज़्म या गीत में वह वेग उसी पूर्णता से समा नहीं पाता। लम्बी छन्दोबद्ध रचना प्रायः उद्वेगों और उच्छ्वासों की एक लड़ी बन जाती है जो छोटे-बड़े, गहरे-फीके रंग के मनकों की माला के समान जान पड़ती है। माला या लड़ी की तुलना पद्य-कथा के लिए और भी अधिक चरितार्थ होगी, परन्तु अश्क ने लहरां की लहरों में जो तारतम्य बाँधा है, उस में शिथिलता जान नहीं पड़ती। वह बरसाती पहाड़ी नाले की भाँति, चाहे बहुत समय तक नहीं बहती, परन्तु जब तक बहती है, सवेग बह जाती है। 'बरगद की बेटी' में हमारी रीति-कालीन-परम्परा के अनुसार क्लिष्ट-गूढ़ता के भँवरों का चमत्कार या अर्थ की दुर्बोधता और शब्द-विन्यास की विषमता के पांडित्य का प्रदर्शन नहीं। इसी कारण इस की गति सरल है।

हिन्दी कविता या पद्य-रचना बहुत दिन पूर्व से ही 'बन्दिनी अबला क्रूर रीति की'* नहीं रही। परन्तु रीतिकाल की 'उन संकुल सम्वृत ज़ंजीरों' से मुक्त होकर भी हिन्दी कविता, उर्दू कविता और पद्य की भांति, शिक्षा और कला के अधिकारी-वर्ग ही की इजारेदारी † रही है। अन्वय और पद-विश्लेषण तथा कोष की सहायता के बिना उसे समझ पाना सरल न था। स्वभावतः काव्यकला के आनन्द का अधिकार एक विशिष्ट-समाज ही की बपौती बना रहा। जिस काव्य की जितनी अधिक टीकाएँ लिखने की आवश्यकता अनुभव हुई, वह काव्य महानता की सीढ़ी पर उतना ही ऊँचा समझा गया। सामाजिक अवस्था में आ जाने वाले परिवर्तनों के अनिवार्य परिणाम-स्वरूप, जब साहित्य का अधिकार विशिष्ट-वर्ग के प्रतिनिधि—साधक के कुटीर और राजदरबार की सीमा से निकल, अपनी

---

* अश्क की कविता "दीप जलेगा" से

† इजारेदारी = अधिकार-विशेष अथवा एकाधिकार (*monopoly*)

महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में असमर्थ, साधनहीन, मध्य-वर्ग के हाथ में आया तो संतोष के साधनों से हीन साहित्यिक ने अन्तर्मुख हो संतोष पाने का यत्न किया। यही कविता के छायावाद की व्यख्या हो सकती है।

छाया का गुण है कि वह थके हुए पथिक को सुला देती है। जिसे अपनी मंज़िल पूरी करनी है, वह छाया में ऊँघने के सुख से संतुष्ट नहीं हो सकता। छाया का दूसरा प्रभाव यह होता है कि छाया में कुछ उग नहीं पाता। जो उगता है, प्रायः निशक्त होता है। स्वभावतः ही हमारी छायावादी कविता हमारे समाज के ऊँघने की स्थिति की साहित्यिक-रचना थी। उस से उपराम और विरक्त हो, राह पर आ, धूप में मंज़िल की ओर क़दम उठाना हमारे साहित्य और समाज के जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक ही था।

अश्क छायावादी कवि नहीं है। कभी रहा होगा तो अब नहीं है। वह पाठक को अपनी प्रतिज्ञा सुना चुका है।

देख रहे (रही) हो
दाँत पीस कर
शक्ति-शेष से
तल छुट तक मैं
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ
इस दीपक को
अँधकार से जूझ रहा जो *

मौत से जूझ कर भी मौत से पराजित न होने की यह प्रतिज्ञा ही अश्क की पद्य-कथा 'बरगद की बेटी' के घटना-क्रम को संयोजित करने वाला सूत्र है। अश्क की कविता 'दीप जलेगा' जिस से ऊपर के उद्धरण

---

*"दीप जलेगा।"

दिये गये हैं, एक चुनौती और हुंकार है, इसलिए उस में वीर-रस की एक-रसता पुष्ट है। 'बरगद की बेटी' छोटी सही परन्तु पूरी कथा है, कई घटनाओं का समन्वय है और रस-भेद के बिना वह पूर्ण न हो सकती थी। 'बरगद की बेटी' बहु-रस है। कविता भावना मात्र से अपनी अभिव्यक्ति कर सकती है। कहानी चाहे पद्यमय अथवा कविता ही हो, अशरीर रह कर व्यक्त नहीं हो सकती। 'बरगद की बेटी' समुचित रूप से सशरीर होकर व्यक्त हुई है। अश्क ने अपने शब्द-चित्रों और भाव-अभिव्यक्ति में गहराई और व्यापकता दोनों का ही बहुत अच्छा परिचय दिया है। लहरां कवि के ओठों को खोल कर स्वयं ही नहीं फूट पड़ी है, उस पर श्रम किया गया है। लेखक की सफलता यह है कि वह पद-रचना और कथा दोनों ही दृष्टियों से, गढ़ी हुई नहीं, स्वाभाविक जान पड़ती है। लगता है जैसे ग्राम्या लहरां की सरलता आप से आप अश्क की बोली में फूट पड़ी है— उर्दू शायरी की चुस्ती और मंजी हुई शैली से हिन्दी को अनुप्राणित कर!

तरुणाई उसके अंगों की
सावन की सरि तूफ़ानी।

या

खेत बाग, बेले वीराने*
परिचित उस के गानों से
मादकता के द्राक्षासव में
डूबे तरल तरानों से।

या

प्रकृति-परी सी वह तन्वंगी
उड़ती उड़ती जाती थी

---

*जहाँ गायें-भैंसें बांधी जाती हैं।

नव-यौवन के रश्मि-पथों पर
मुक्त-खगी सी गाती थी।

या

उसके आलिंगन को आतुर
पेड़ों पौधों की बाहें।

आदि पदों की सरलता, चुस्ती और स्वाभाविकता स्वतः स्पष्ट है।

लहरां के रूप का यह परिचय उस के वातावरण के उल्लेख बिना अपूर्ण ही रहता। लहरां गंगा-जमुना से घिरी सीली उर्वरा भूमि का कोमल पौधा नहीं जो जीवन के लिए भूमि और आकाश से सहज ही रस पाता है और लू की चपेट से कुम्हला कर पत्ते लटका देता है। वह मरु-भूमि की ठोस, सुडौल झाड़ी है, जो संघर्ष से जीवन का रस पाती है और प्रतिकूल-परिस्थितियों में अपना अस्तित्व बनाये रखने का हठ करती है। अश्क उस का परिचय देता है।

थी करीर की झाड़ी सी वह
उस के फूलों सी सुन्दर,
भासमान उस के दम से था
वह रूखा-सूखा ऊसर!

और उस के पूर्वज थे ऐसे डेराबासी (खानाबदोश) चरवाहे

संग लिये घूमा करते थे
जो अपना घर दर सारा।
जगती के कोने कोने में
तोड़ बंधनों की कारा।

घूमते घूमते वे पीलन गांव के ऊसर में आ निकले थे। उन्हीं दिनों

मरु-भूमि में सरकारी नहर आ गयी थी। पीलन का ज़मीदार नहर से राजबहा और राजबहे से बहे और बरहे बनाकर अपनी ऊसर-भूमि को सरसाना चाहता था। उस ने काश्तकारी के लिए वह ऊसर-भूमि उन चरवाहों को दे दी।

चिर कौमार्य तोड़ धरती का
अपने हल की ठोकर से,
चरवाहों ने उस बर्बर को
राम किया बल-बर्बर से।

ऊबड़ खाबड़ थी धरती जो
उसे बना डाला समतल।
जहां न तिनका भी उगता था
वहां लहलहा उठी फ़सल।

लहरां के पूर्वज डेराबासी चरवाहों से किसान बन गये। उन्हों ने ऊसर को उर्वर बना दिया, परन्तु धरती ज़मींदार ही की रही और किसानों के अतिरिक्त-श्रम— अर्थात् उस धरती से पैदावार कर सकते रहने के प्रयोजन से उन किसानों को जीवित बनाये रखने के लिए, अत्तन्त-आवश्यक रूखे-सूखे भोजन और आवरण-मात्र कपड़े— को छोड़ कर, धरती की सब पैदावार पीलन के ज़मीदार की धन - वृद्धि करती रहती। अश्क ने दो ही पंक्तियों में इस स्थिति को स्पष्ट कर दिया है।

किया परिश्रम रात-दिवस
दो कौर मिले संतुष्ट हुए!
सुख के साधन ज़मींदार के
किन्तु और कुछ पुष्ट हुए।

परन्तु इस सहज संतोष और शोषण के नये पाये बंधनों के बावजूद लहरां का समाज दैन्य को सहज गुण के रूप से स्वीकार नहीं कर पाया। कारण?

कब उकाब को बये सरीखा
नीड़ बनाना आ पाये,
जंगल का सिंह इतनी जल्दी
कैसे गैय्या बन जाये।

और इसीलिए

नाच उठा करती बर्बरता
कभी कभी इस ऊसर में।
द्वंद्व लड़ाई औ' हत्याएं
हो जातीं तब क्षण भर में।

यह वातावरण है जिस में लहरां पल कर परवान चढ़ती है* और अनवर से प्रेम करने लगती है।

अनवर पीलन के ज़मींदार का पुत्र है और नगर के कालिज में अपने वर्ग के विशेषाधिकार की रक्षा के लिए उपयोगी शिक्षा पा रहा है। वह 'योग्य' पिता का 'योग्य' पुत्र है। अपने आसामियों के अतिरिक्त-श्रम ही पर नहीं, उन की युवतियों के अतिरिक्त-यौवन† पर भी अपना अधिकार समझता है। जब वह अपनी तड़क-भड़क के प्रति लहरां की आँखों में आकर्षण देखता है, (अथवा पैदा कर देता है) तो चतुराई से जाल बिछा कर दाना फेंक देता है। और लहरां यौवन के उद्दाम-उत्साह और

---

* परवान चढ़ती है=युवा होती है।

†किसानों की वंश रक्षा के लिए व्यय होने वाली जीवन-शक्ति की उमंग के अतिरिक्त।

महत्वाकांक्षाओं में, यौवन की उमंग को पूरा करने के लिए सुन्दरतम साधन की ओर खिंच जाती है, अथवा सिरकियों की झोंपड़ी से निकल कर उस की अटारी में पहुँचने की महत्वाकांक्षा करने लगती है।

अनवर का नौकर सादिक, पालतू ही सही, पर है तो उकाब ही। नौकर होकर भी वह दिल रखता है। श्रेणी-समानता और बिरादरी के आधार पर वह लहरां पर अपना अधिकार, अनवर की अपेक्षा, अधिक समझता है और अपने दिल की माँग पर जूझ जाता है।

लहरां के समाज के अक्लीव प्रेम के सम्बन्ध में अश्क लिखता है—

प्रेम जहाँ मिट तो जाता था
होता लेकिन सर्द नहीं।
प्रेम जहाँ बीमारों का सा
पीला पीला ज़र्द नहीं।

ज्वाला सा जो एक बार उठता था
औ' बुझ जाता था।
नहीं कभी जिस को दीपक सा
टिम-टिम जलना भाता था।

सादिक अपने प्रति निरपेक्ष और अनवर के प्रति अनुरक्त लहरां को गहरी संध्या के अंधकार में, बरगद तले के एकान्त में, कई बार अनवर से मिलते देख चुका था। अनवर का ज़ाती नौकर होने के कारण उस की मानसिक-पीड़ा का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी लिए

एक सांझ ऐसे ही क्षण में
कौंध उठा उस का खंजर,
एक चीख़ गूँजी धरतों पर
लोट गया घायल अनवर।

पर इतने ही रक्त से उस के क्रोध की ज्वाला कैसे बुझती। इसलिए फिर दूसरी बार खंजर के रूप में सादिक के क्रोध की बिजली सी कौंधी और लहू में लथपथ लहरां धरती पर गिर पड़ी।

तब सादिक ने जाकर स्वयं ही पुलिस के हाथ आत्म-समर्पण कर अपने अपराध की घोषणा कर दी। अश्क ने उस के मुख में क्रान्तिकारी की भाषा दी है। सादिक कहता है—

इज़्ज़त क्या धनवानों की है,
निर्धन का कुछ मान नहीं?
निर्धन का अपमान भला क्या
निर्धन का अपमान नहीं?

धनी और निर्धन में कैसा
प्यार, कहो कैसी उल्फ़त?
उस का मन-बहलावा है औ'
इसकी जाती है इज़्ज़त!

पुलिस ज़मींदार की इच्छा के अनुकूल, सादिक के इस विद्रोह का बहाना लेकर, किसानों को बर्बाद कर देती है। अनवर का ज़मींदार पिता-हीन-श्रेणी की लड़की के प्रति अपने पुत्र की आसक्ति से अपमानित अनुभव करता है। लेकिन उस अवस्था में भी 'तरुणाई लहरां के अंगों की, सावन की सरि तूफ़ानी' प्रौढ़ ज़मींदार को बहा ले जाती है।

लहरां ज़मींदार की अटारी में पहुँच जाती है—अनवर का मन बस में करके नहीं, ज़मींदार के बस में पड़ कर!

ज़मींदार अपनी भूमि पर खेती करने वालों को अपने भोग का साधन-मात्र समझता है और यही प्रयोजन वह लहरां से भी पूरा करना चाहता है। लहरां बन्दी बन कर उत्पीड़न सहती है, परन्तु ज़मींदार की वासना-

पूर्ति का साधन बनना स्वीकार नहीं करती। ज़मींदार बलात्कार पर उतर आता है और नशे की बेसुधी और शिथिलता में लहरां के हाथों अपने प्राण खो बैठता है। लहरां उस की क़ैद से भाग कर आत्म-हत्या कर लेती है।

संक्षेप में यह है, प्रस्तुत पद्य-कथा का रेखा-चित्र जिसे कविता से पूर्ण कर रंगीन बनाया गया है, जिस में अनेक स्थल ऐसे हैं जो पढ़ने ही से सम्बन्ध रखते हैं और रेखा-चित्र तो केवल परिधि-मात्र ही है।

सामन्तशाही उत्पीड़न की इस भूमिका में अश्क-शोषण के प्रति जो क्षोभ जगाता है वह औद्योगिक-युग की भाषा में है। अश्क का स्वप्नोद्गार है-

जहाँ कि पीलन पति से शोषक
को होगा रहना दूभर!
औ' चरवाहों से श्रमिकों का
ऊँचा होगा जीवन स्तर!

अश्क सामन्तवादी भूमिका में समाजवादी भाषा बोलता है, क्योंकि वह स्वयं औद्योगिक-शोषण के काल की उपज है। साहित्य के गुण दोष के निरूपण के विचार से हम इसे असामयिक-समन्वय (*anachronism* कह सकते हैं। पूर्णतः निर्णयात्मक बात कहनी हो तो कह सकते हैं कर्ता की (*subjective*) दृष्टि से यह असामयिक-समन्वय न सही कारक की (*objective*) दृष्टि से यह असामयिक-समन्वय ही है। अश्क की इस चूक का कारण, यदि साहित्य की शुद्धता में निष्ठा रखने वाले आलोचक इसे चूक ही कहना चाहें, उस की आधुनिक वातावरण में प्रगतिवादी भावुकता है। अश्क के साहित्य से परिचित आलोचक यह मानेंगे कि वह सोद्देश्य लिखता है। कला का उपयोग वह उद्देश्य की ओर बढ़ना ही समझता है। 'बरगद की बेटी' में लहराँ की रचना उस ने यौवन की सरि

तूफ़ानी में मानसिक जल-क्रीड़ा के लिए नहीं, शोषण के प्रति वितृष्णा जगाने और ऐसा समय लाने के लिए की है—

जब नारी को मिल जायेगा
उस का खोया अपनापन।

अश्क के यहाँ तो बरगद सी जड़ वस्तु भी जंगम और प्रगति का प्रतीक बन कर आती है।

अवधि मनुज के लघु युग की जब
चुकने को आ जाती है;
इस की एक जटा क्षिति को छू
एक तना बन जाती है।

और अन्त में इसी वट की एक नयी जटा धरती को छू कर तना बनती हुई, जैसे आगत का सारा ज्ञान अपना कर, कहती है:—

एक नया युग आने को है
शोषण है मिट जाने को!
औ' जग उत्पीड़न के बदले
एक नया सुख पाने को!

और वह महान वट प्रगति ही का नहीं, युग की भावना से मुखर कवि का भी प्रतीक बन जाता।

साहित्य के वर्ग-विवेचन की दृष्टि से अश्क की और रचनाओं की भाँति इस रचना में भी गति के साथ "प्र" उपसर्ग अपेक्षाकृत दीर्घ होकर ही लगता है। आश्चर्य हुआ, इस रचना के प्रति प्रगतिवादी आलोचकों का मत जान कर। 'बरगद की बेटी' के प्रकाशन से पूर्व लेखकों के निजी क्षेत्र में इस रचना की चर्चा रही है। प्रगतिवाद के कुछ प्रमुखों को यह रचना अवास्तविक और प्रतिक्रियावादी जान पड़ी। कारण? शोषित-वर्ग

की युवती का शोषक-वर्ग के युवक के प्रति अनुराग उन्हें न तो वास्तविक ही जँचा और न आदर्श रूप से अनुकरणीय ! और फिर रचना में आर्थिक आधार पर वर्ग-संघर्ष की भावना की कमी !!

जहाँ तक वस्ताविकता का सन्बन्ध है, अश्क ने देहात और प्रेम का वर्णन जानकार की भाषा में किया है। अपने कवि की मनचाही कल्पना पर नियन्त्रण रखा है। देहाती साँझ के सौन्दर्य में देहात की रुखाई और ग़रीबी भूल नहीं गया, युवती के सौन्दर्य और जवानी के उल्लास का वर्णन करता है तो याद रखता है कि ये बातें चरवाहों की बेटी की हैं—

तभी आप से आप एक दिन
सँवर गये उसके कुन्तल !
रूखी जमी हुई अलकें तब
सुलझ सँवर कर हुई चपल !

और

मटमैले वस्त्रों ने उस के
पाया अभिनव आकर्षण !

रही श्रेणी-संघर्ष और श्रेणी-चेतना की भावना—जो इस युग में प्रगति की प्राण-शक्ति है— तो वास्तविकता के समर्थक कला के आलोचक, कृषि को नये नये अपनाने वाले समाज की लड़की में आज दिन के श्रेणी-संघर्ष और श्रेणी-चेतना की भावना देखना चाहें तो हमें उनकी ऐतिहासिक सूझ की ही तारीफ़ करनी होगी।

आदर्श के नाते इस कथा में अश्क ने न तो श्रेणी वैषम्य में प्रेम को सफल दिखाया है और न उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की है। उसकी सहानुभूति है लहरां के 'अपनेपन' की रक्षा में बलिदान हो जाने से।

प्रगतिवादी आलोचकों के विचार से लहरां में वास्तविकता नहीं, क्योंकि उसमें आर्थिक-आधार पर श्रेणी-संघर्ष नहीं। उसमें किसानों के खेती

की भूमि की माँग करने और मज़दूरों की मज़दूरी की बढ़ती की मांग के प्रश्न पर हड़ताल का चित्रण नहीं। प्रगतिवादी आलोचकों के विचार से आज केवल एक ही वास्तविकता है और वह है शोषित श्रेणी का, आर्थिक क्षेत्र में, अधिकार-प्राप्ति का आन्दोलन! परन्तु सामन्तवादी कृषि-कालीन युग में जो कि 'बरगद की बेटी' की भूमि है, श्रेणी-चेतना को कैसे जमाया जा सकता है? उस काल में नैतिकता और न्याय की तुला थी—राजा या सामन्त पिता है और प्रजा सन्तान!

प्रगतिवाद क्या है, यह बात काफ़ी कूट छान कर देखी जा चुकी है। हम यह समझ चुके हैं कि जो पूँजीवाद एक समय समाज की आवश्यकताओं को पहले की अपेक्षा अधिक परिमाण में तृप्त कर सकने में समर्थ होने के कारण विकास-शील था, अब इस सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ वह अपने स्वार्थ के लिए समाज को बर्बाद कर रहा है। इसलिए वह विकास-शील नहीं रहा। इस पूँजीवादी-व्यवस्था में सामाजिक-विकास और प्रगति के लिए अवसर नहीं। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि समाज की वर्तमान अवस्था में संगठित-मज़दूर-वर्ग ही एक-मात्र प्रगतिशील और क्रान्तिकारी शक्ति है, जो समाज को इस जीर्ण-व्यवस्था से नयी और विकासशील व्यवस्था में ले जा सकती है। पूँजीवाद की व्यवस्था में बँधे समाज में जो अव्यवस्था और घुटन पैदा हो रही है, जो विनाश हो रहा है, उसे संगठित और सचेत मज़दूर-वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी-व्यवस्था लाकर ही दूर किया जा सकता है। हम यह भी मानते हैं कि सामाजिक-विकास का मार्ग आर्थिक आधार पर श्रेणीगत-संघर्ष ही रहा है और भविष्य के लिए भी यही क्रम अनिवार्य है। इस सिद्धान्त से भी विवाद नहीं कि समाज की सम्पूर्ण व्ययवस्था की जड़ें उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के अधिकार में ही जमी हुई हैं और जर्जर पूँजवादी व्यवस्था को सुधार के पैवन्द

लगा कर समाज के पोषण के योग्य नहीं बनाया जा सकता। समाज की रक्षा के लिए आवश्यकता है सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में क्रान्ति की, पूँजीवादी शोषक व्यवस्था के स्थान पर समाजवादी पोषक व्यवस्था लाने की और समाज की भावना की अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य की उपादेयता इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बनना ही है। परन्तु फिर भी ......

आर्थिक विधान को ही समाज का श्वास मानें तो भी हम समाज के स्थूल शरीर की उपेक्षा नहीं कर सकते। समाज की वास्तविकता का परिचय देने के लिए केवल उस की श्वास-गणना या समाज के फेफड़ों (अर्थिक व्यवस्था) का एक्स-रे-चित्र दे देना ही पर्याप्त नहीं हो सकता। यदि हम अपने प्रगतिशील आलोचकों का परिचय देने के लिए जनता के सामने आलोचक का एक्स-रे-फ़ोटो पेश कर दें तो जनता तो क्या, स्वयं आलोचक भी अपने आपको शायद ही पहचान पायगा। आलोचक के रूप और शरीर की वास्तविकता का परिचय पाने के लिए एक्स-रे के कैमरे ही की नहीं, साधारण फ़ोटोग्राफ़ी के कैमरे की भी आवश्यकता है और वह फ़ोटो आलोचक की नित्य अभ्यास की पोशाक पहना कर ही लेना उचित है।

समाज की व्याधि के इलाज के लिए उसकी व्यवस्था या फेफड़ों के एक्स-रे-फ़ोटो की, अर्थात् उसके आर्थिक आधार के विश्लेषण की, बहुत आवश्यकता है,। परन्तु इसका अभिप्रायः यह नहीं कि समाज के दृश्य-रूप और उसके व्यवहार के चित्रण और अनुशीलन की आवश्यकता नहीं, या समाज का दृश्य-रूप और परिधान अवास्तविक है। यदि अश्क 'बरगद की बेटी' में समाज के एक अंग के दृश्य-रूप और व्यवहार का चित्र पेश करता है तो प्रगतिवाद उसे केवल एक्स-रे-चित्र पेश न करने के अपराध में त्याज्य नहीं कह सकता।

प्रगतिशील आलोचकों की ऐसी प्रवृत्ति से हमें स्वयं उनके प्रयत्नों की सार्थकता के विषय में आशंका होने लगती है। यदि ये आलोचक मार्कस वादी दर्शन का मूल आधार द्वन्द्वात्मक-क्रम के सिद्धान्त को समझते हैं तो उचित होगा कि वे अपनी विपथगा-उग्रता में एक क्षण के लिए ठहरकर यह समझने का यत्न करें कि उनकी केवल आर्थिक आधार पर ही श्रेणी-संघर्ष को महत्व देने की प्रवृत्ति परिमाण में बढ़ते-बढ़ते अपने गुण तो नहीं बदल बैठी। उन्हें याद रखना चाहिए कि एक सीमा पर पहुँच कर परिमाणात्मक-वृद्धि का परिणाम गुणात्मक-परिवर्तन हो जाता है। साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का लक्ष्य होना चाहिए साहित्य में प्रगति की चेतना और भावना की वृद्धि, परन्तु ये आलोचक अपनी सूझ की प्रगति को कहीं साहित्य में इतना न बढ़ा दें कि प्रगति की उष्णता की वृद्धि से साहित्य का सम्पूर्ण जल ही भाफ बन कर उड़ जाय।

कला की बात कहते कहते कलह में उलझ गये। अस्तु 'बरगद की बेटी' से पाठक क्या अशा करें? कविता में कथा है। अश्क कवि भी है और कथाकार भी। 'उबाल' उसकी बहुत सफल कहानी है जो उसकी अन्य कहानियों में मुझे विशिष्ट दिखायी देती है। परन्तु यह पद्यमय कथा एक बात बहुत स्पष्ट कह रही है कि अश्क की कहानी की अपेक्षा उसकी कविता अधिक सफल है। उसकी सरलता में मर्म और ओज है और सरलता के गर्भ में सार भी।

मर्म के उदाहरण के लिए ये पद कितने तीखे हैं।

रहे भँवर की इच्छा जिसको
तट की लहरें क्या जानें!
जो उलझी नभ के तारों में
कब धरती को पहचाने!

और फिर

मुस्कानों के पर्दे में निज
घाव छिपाये जाते हैं।

अश्क की सरलता पर उर्दू की परिमार्जित शैली का प्रभाव गहरा है। और अपनी चुस्ती के कारण वह उद्धरण और कहावत के प्रयोग में भी आ सकती है। जैसे:—

आँखों में डोरे अनजाने
अरमानों के दौड़ गये।

या

सालस लालस अभिलाषा ने
उसके मन को अपनाया।

या

मानस का सागर मथ डाला
विह्वल चपल तरंगों ने।

या

जहाँ सरलता हँस देती थी
आडम्बर पर मुक्त हँसी।

भाषा सरल होने पर भी अश्क की उपमाएँ गम्भीर हैं। जैसे,

उन चरवाहों के वंशज कुछ
आये आकर रुके यहीं।
जहाँ शीत पायें बादल ज्यों,
लेकर दल बल झुकें वहीं।

में अथवा :—

ज्ञान कि जो तृष्णा की ज्वाला
सहसा अधिक बढ़ा देता।
औ' अतृप्ति के पारद को जो
होकर तृप्त चढ़ा देता।

में !

पहली उपमा से कालीदास के प्रकृति-ज्ञान और चित्रण की ओर दूसरी से शेक्सपियर के मानव-स्वभाव के तर्क-संगत-वर्णन की याद आ जाती है।

परन्तु अश्क ने पूर्वज कवियों की जेबें नहीं काटीं। शेक्सपियर में हैमलेट ने अपनी माता को देवर की काम-वासना में लिप्त देख, घृणा प्रकट करने के लिए मिलती-जुलती बात कही है।

As if increase of appetite had grown
By what it fed on

Hamlet Act 1. Scene 2.

परन्तु अश्क की अभिव्यक्ति आधुनिक यंत्र-युग के ज्ञान से अधिक पुष्ट और स्पष्ट है और स्वतंत्र जान पड़ती है।

कहावत है 'बाबा सोये जा घर में, टाग पसारे वा घर में'—कुछ ऐसी ही बात इस छोटे से पद्य-कथा की लम्बी भूमिका लिख डालना हो गयी। परन्तु हिन्दी के इसे युग में, जब साहित्य-रचना से अधिक संतोष और गौरव साहित्य-आलोचना में पाया जाता हो, ऐसी बात कोई भी कर सकता है। इस आलोचना के आतंक का प्रभाव अश्क की इस पद्य-कथा

पर भी स्पष्ट है। वह प्रगतिवादी भाषा और भाव के प्रति अति आतुर है। फिर भी 'बरगद की बेटी' की पद्य कथा, कविता के प्रति-बन्धों और सीमाओं में जकड़ी रह कर भी, खूब बनी है।

अलमोड़ा
८ जून, १९४९

— यशपाल

बरगद की बेटी

कभी कभी जब ऊबा ऊबा
थका थका मन होता है;
औ' पश्चिम में ज्योति-तिमिर के
मिलने का क्षण होता है;

दिन के यौवन की ध्वनियाँ जब
थक कर चुप हो जाती हैं;
महाशून्य के महागर्त में
जाकर जब खो जाती हैं;

ग्रीष्म-काल की संध्या लेकर
अपनी उमस, घुटन सारी;
होती है जब धीरे धीरे
चुप चुप 'पीलन' पर तारी;*

नभ के मरु में आता है जब
कोई एकाकी तारा,
खल उठता है जिस को सहसा
अपना सूनापन सारा,

मैं भी उकता जाता हूँ, निज
एकाकी सूनेपन से,
उकता जाता हूँ अपने इस
भार सरीखे जीवन से—

*तारी होती है=छा जाती है।

जो अपने उजड़े वर्षों की
लेकर सुख-सुधियाँ सारी,
इन वीरानी संध्याओं में
सहसा हो उठता भारी!

छड़ी उठाता हूँ औ' घर की
उमसे, घुटन तज देता हूँ।
मौन रूप से मैं चिर-परिचित
इस पथ पर हो लेता हूँ।

जाता राजबहे* को हो कर
ज़मींदार के जो घर से।
फिर उसके आगे जाकर जो
मिल जाता है ऊसर से।

ऊसर का यह पथ ले जाता
उस महान वट के नीचे।
प्रकृति-परी दिन को भी रहती
जहाँ सदा आँखें मीचे।

---

* राज बहा = रजबहा = खाला = खाल = बड़ा नाला जो नहर से निकाला जाता है।

पीलन का यह कच्चा रस्ता
इसका कण कण चिर-परिचित,
जाने माने मोड़ सभी, है
इसकी मंज़िल भी निश्चित !

बरगद की बेटी

—यह जौहड़, इसने पीलन के
संग जन्म शायद धारा* ।
औ' इसके कृषकों सा ही जो
है बेबस औ' बेचारा ।

इधर खड़ा है बूढ़ा पीपल
दुर्बल, क्षीणकाय, जर्जर !
कूड़े के अम्बार उधर, नित
जिन पर चरते हैं शूकर !

उथला पानी, जिस में पटसन
गंध सदा फैलाता है ।
पीलनभर का आविल जल फिर
आ जिस में मिल जाता है !

इसके पंकिल जल में बैठी
भैंसें हाँफा करती हैं ।
इतने पर भी दलित जातियाँ
विवश यहीं जल भरती हैं ।

---

*जन्म धरना मुहाविरा है । पर पंजाब में भी और यू० पी० के कुछ हिस्सों में भी जन्म धारना प्रचलित है ।

कृषकों के जीवन सा इसमें
दो दिन पानी आता है ।
फिर उन ही की भाँति वर्ष भर
इसे सूखना भाता है ।

—इधर पास में है जौहड़ के
पीर दिलावर का डेरा,
प्रातः-सायं पीलन वासी
करते हैं जिसका फेरा ।

पीर दिलावर, पीर पुराना
है पीलन के घर घर का ।
इस प्रदेश में वह साथी है
नभ के राजा इन्दर* का ।

वर्षा करने, जौहड़ भरने
में है उसका हाथ घना ।
लेते हैं दो बार वर्ष में,
तभी खेतिहर उसे मना ।

---

* इन्दर = इन्द्र का पंजाबी उच्चारण

इधर जेठ में उधर माघ में,
इस पर मेला भरता है ।
पीर मुरादें तब भक्तों की
अपने पूरी करता है ।

झड़ी लगा देता है जौहड़
खूब लबालब भरता है ।
इसके क्रोध कोप से पीलन
का हर वासी डरता है ।

पीर दिलावर कहते हैं सब
'करता है नित मनमानी ।
जब देता है पानी, लेता
एक युवक की कुर्बानी ।'

—यह तेली का कोल्हू जिसका
नाम भला सा—'बख़्तावर,'
लेकिन जिसका बख़्त बैल से
अपने नहीं ज़रा बेहतर !

*बखतावर=भाग्यवान; बखत=भाग्य

सरसों में 'तारे-मीरे'[1] की
सदा मिलावट करता है।
जोड़ तोड़ कर ऐसे ही वह
अपना 'दोज़ख़'[2] भरता है।

तेल सदा इसका, दीपों में
दीवाली के, बहता है।
पर इसके घर अमा-निशा का
सदा अँधेरा रहता है।

—औ' यह वृद्ध फ़क़ीरा, रस्सी
बटता रहता है दिन भर!
वही पुरानी जर्जर खटिया
जर्जर दहली का खँडहर!

—औ' यह महरी सुबह-सवेरे
घर घर पानी भरती है।
और साँझ को भट्ट तपाने
का आयोजन करती है।

---

१. तारा-मीरा = सरसों ही की तरह का बीज होता है, जिसका तेल लगाने से सिर में मिरचें सी लग जाती हैं। २. दोज़ख़ = नरक = पेट।

कभी कभी जब इसकी लड़की
स्वयं भूनती है दाने।
भरे झोलियाँ आ जाते हैं
कई गाँव के मस्ताने।

पहले प्यार कई उगते हैं
इस महरी के आँगन में।
औ' विष भी बोया जाता है
किसी किसी के जीवन में।

—यह कुम्हार का आवा आगे
चलते चाक निरन्तर हैं।
इसके घड़े, दौरियाँ, कूज़े
पीलन भर में घर घर हैं।

सदा पड़े रहते हैं इसको
पर दो रोटी के लाले।
मेघ सदा छाये रहते हैं
इसके जीवन पर काले।

गाँव अगर भूखा है तो फिर
कलाकार क्या खायेगा?
गाँव अगर सूखा है तो फिर
वह कैसे सरसायेगा?

—अन्तिम चौराहे पर है जो
बड़ी हवेली का खँडहर,
इसमें रहते थे पीलन के
स्वामी—खान हसन अकबर!

यह टूटी चौपाल जहाँ अब
लड़के डंड पेलते हैं;
और कभी पीलन के बच्चे
'कौड़ी कौड़'* खेलते हैं;

कुत्तों का होता रहता अब
सदा प्रणय-व्यापार जहाँ;
रात रात भर चीखा करते
लोमड़ और सयार जहाँ;

* कौड़ी कौड़=कौड़ कबड्डी

दिन थे लगता था पीलन के
स्वामी का दरबार यहाँ।
कभी खड़े रहते थे चौकस
निशि-दिन पहरेदार यहाँ।

यह जर्जर चौपाल कभी डर
और क़हर बरसाती थी।
करते समय प्रवेश यहाँ पर
सहज धड़कती छाती थी।

यह चौपाल, कभी दिन थे,
सुन्दर ध्वनियों की बस्ती थी।
इसकी रौनक को पीलन की
हर चौपाल तरसती थी।

मादक गाने गूंजा करते
इन सूनी दीवारों में।
मधुर,मदिर,मनहर स्वर मिलते
पायल की झंकारों में।

बरगद की बेटी

अब जो पीलन के स्वामी हैं
कहीं नगर में बसते हैं।
ओलों से उनके कारिन्दे
सहसा आन बरसते हैं।

— ख़त्म हवेली हुई कि आगे
खेत, चरागाहें सुन्दर!
राजबहे के पार किन्तु है
मीलों तक फैला ऊसर।

इधर आम जामुन औ पीलू
छाया हीन परांह उधर!
इधर घने शहतूत तने हैं
औ' कीकर* की छाँह उधर!

— लेकिन वह महान बरगद है
मरु का सुखकर शरणस्थल।
इस सपाट, ऊसर धरती में
सुखद मनोहारी शाद्वल।

* बबूल

बरगद की बेटी

जाने कितनी सदियों से यह
महा-तपस्वी मौन अटल !
ज्ञान लिये युग युग का योगी
बैठा धीरोदात्त, अचल !

इसके वृद्ध तनों में खोहें
गहरी गहन-गुफाओं सी।
अगनित शाखाओं के नीचे
छाया सघन-घटाओं सी !

त्राण घुमक्कड़ चरवाहों की
टोली जिसमें पा जाये !
औ,' चाहे तो जिसके नीचे
सेना एक समा जाये !

अगनित अस्थाई चूल्हों की
ईंटें बिखरी इधर उधर,
इंगित करती हैं, श्रम के त्राण
यात्री जो कर गये बसर !

बरगद की बेटी

दशों दिशाओं में बढ़ती हैं
इसकी शाखाएँ अविरल!
घनी जटाएँ और दाढ़ियाँ
आतुर छूने को क्षिति-तल!

अवधि मनुज के लघु-युग की जब
चुकने को आ जाती है,
इसकी एक जटा क्षिति को छू
एक तना बन जाती है।

—एक बड़ा सा पत्थर, इसको
जाने कौन यहाँ लाया?
वट की चेतनता के आगे
जिस को जड़ रहना भाया।

कई बार इस शिला-खंड पर
मैं आकर सुस्ताता हूँ।
औ' फिर मरु के आकर्षण में
अनायास खो जाता हूँ।

अलसायी संध्या पश्चिम में
जब लेती है अँगड़ाई,
नील-व्योम में हल्की-हल्की
छा जाती है अरुणाई!

ऊसर भी हो उठता है तब
लाल लाल सा क्षणभर को।
औ' मिल जाती है सुन्दरता
एक अजब सी कीकर को।

औ' करीर* के अरुण-फूल
करते हैं निर्जन को भास्वर।
नाच उठा करती है रंजित
खाले की हर लोल लहर।

दमक उठा करते हैं वट की
घन-छाया में हीरक से।
सहस नयन वट के तकते हों
ज्यों यह सुषमा अपलक से।

नीरवता छा जाती है तब
खेतों में खलिहानों में।
और उतरते साये नभ से
भेद-भरे वीरानों में।

---

* करीर

जंड*, करीर† बबूल आदि तब
अपनी सत्ता पाते हैं।
प्रायः पल्लव-हीन स्वरों से
मरु का मौन बढ़ाते हैं।

दिन के पक्षी दाना दुनका
चुग नीड़ों को आते हैं।
औ' निशिचर अँगड़ाई लेकर
अपने पर फैलाते हैं।

गहन, गहर स्वर तब उलूक का
मरुथल में गहराता है।
या चमगादड़ पंख पसारे
अनायास उड़ जाता है।

या जिसको निगले जाता है
अजगर सा एकाकीपन;
चमकाती जिस की आँखों में
याद विगत यौवन के क्षण—

* जंड = ढाक । † करीर = करील

वह किसान निज करुण कंठ से
मुखरित कर देता उन्मन,
फैले फैले वीराने ये
लम्बे लम्बे पथ निर्जन।

कहीं टटिहरी आकुल, आतुर
'टीहुँ' 'टीहुँ' कर गाती है।
राजबहे से अलग़ोज़ों की
कहीं करुण-ध्वनि आती है।

वह ध्वनि जिसमें किसी हृदय का
दर्द निरन्तर बहता है।
'रांझे' की गाथा के मिस जो
करुण कथा निज कहता है।

जब उन अलग़ोज़ों* में कोई
मन की व्यथा बहाता है,
सादिक का मुख आँखों में तब
अनायास आ जाता है।

---

*अलग़ोज़ा = दो मोटी बांसुरियों से मिलकर बना साज़

बरगद की बेटी

जब कोई चरवाही भेड़ें
नदी पार से लाती है,
उड़ती उड़ती धूल दिशाओं
में जाकर छा जाती है।

बरगद की उस बेटी की तब
स्मृति आँखों में आती है।
औ' भूली बिसरी गाथा वह
अपने आप सुनाती है।



नाम भला सा था—लहरों, वह
लहरों सी ही थी चंचल !
मुक्त समीरण के झोंके सी
थी उस की गति-विधि अविरल !

आँखों में आ जाती हैं वे
उसकी लहराती अलकें !
बड़े बड़े नयनों पर छाया
सी छाने वाली पलकें !

वह उस का भोला भाला मुख
वह उस की चंचल वाणी !
पूनों का ज्यों चाँद और ज्यों
सरिता का बहता पानी !

तरुणाई उसके अंगों की
सावन की सरि तूफ़ानी !
या पंखों पर मस्त हवा के
उमडा सा आता पानी ।

खेत, बाग़, बेले,* वीराने
परिचित उस के गानों से ।
मादकता के द्राक्षासव में
डूबे तरल तरानों से ।

* बेले = जहाँ गाय भैंसे बाँधी जाती हैं ।

फूल फूल पर ज्यों तितली
औ' कली कली पर ज्यों भौंरा,
मन के सुख से मँडराता है
गाता ज्यों बौरा बौरा!

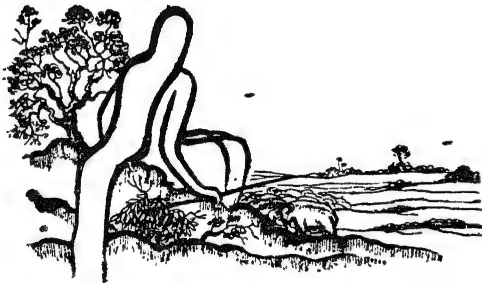
खेतों की मेढ़ों, खालों पर,
बागों औ' वीरानों में;
चौड़े, मटमैले, रेतीले,
ऊसर के मैदानों में;

प्रकृति-परी सी वह तन्वंगी
उड़ती उड़ती जाती थी।
नव-यौवन के रश्मि-पथों पर
मुक्त-खगी सी गाती थी।

उसकी गति से परिचित अगनित
टेढ़ी मेढ़ी सी राहें!
उसके आलिंगन को आतुर
पेड़ों पौधों की बाहें!

बरगद की बेटी

थी करीर की झाड़ी सी वह
उस के फूलों सी सुन्दर।
भासमान उस के दम से था
वह रूखा सूखा ऊसर।



था लहरों की युवा नसों में
लोहू उन चरवाहों का,
ज्ञान रहा जिनको धरती की
आदिम चाहों राहों का।

संग लिये घूमा करते थे
जो अपना घर-दर सारा;
जगती के कोने कोने में
तोड़ बंधनों की कारा।

सागर की उस एक लहर से
बहते जो क्षिति के तल पर ;
उठे, बढ़े, फैले, मिट जाये
जो कि जलधि-वक्षस्थल पर !

था उस पक्षी से, जिसको हो
नीड़ गगन विस्तृत सारा।
जिसे न यह वन या वह उपवन
एक दूसरे से प्यारा।

उन चरवाहों का लोहू था
बहता उस की नस नस में,
प्रकृति-परी को अपने बल से
करते जो अपने बस में।

उनका, जिन में प्रेम-प्रतिष्ठा
बल के बल जीती जाती।
जिन को अपनी आज़ादी निज
प्राणों से बढ़ कर भाती।

प्रेम जहाँ पर मिट जाता था
होता लेकिन सर्द नहीं।
प्रेम जहाँ बीमारों का सा
पीला पीला ज़र्द नहीं।

ज्वाला सा जो एक बार उठता था
और बुझ जाता था।
नहीं कभी जिस को दीपक सा
टिम टिम जलना भाता था।

जहाँ सरल था हँसना रोना
और सुगम जीना मरना;
जहाँ कि पंकिल होकर भी था
अविरल संसृति का झरना।

जहाँ सरलता हँस देती थी
आडम्बर पर मुक्त-हँसी।
शिष्टाचारों के जालों में
थी न सभ्यता जहाँ फँसी।

जिनके तन की नस नस में था
रक्त प्रवाहित यौवन का।
जिन के यौवन में अन्तर्हित
अंश सरल बालकपन का।

सदा पवन से मुक्त घूमते
जो इस धरणी के तल पर।
चिर-जिज्ञासा, चिर-उत्सुकता
आदिम-मानव की लेकर !

उन चरवाहों के वंशज कुछ
आये, आकर रुके यहीं।
जहाँ शीत पायें बादल ज्यों,
लेकर दल बल झुके वहीं।

बरगद की बेटी

थके हुए थे लख कर जल थल
आ इस ऊसर में उतरे !
नन्हें उजले मैले खेमे
मरु से प्रांगण में बिखरे !

तभी एक दिन वट के नीचे
लहरा जगती में आई !
बरगद के नीचे जन्मी वह
बेटी उस की कहलाई !

दिन थे वही नहर सरकारी
निकली पीलन से होकर ।
मरु बन मधु-वन लहराये
हर्षाये ऊसर हो उर्वर !

उन्हीं दिनों पीलन का पति भी
हुआ अचानक अति-आतुर,
साध, कि पीलन की यह धरती
मुस्काये बन कर उर्वर !

चाहा उसने निर्जन में से
लम्बी खाल* बना डाले!
औ' अपने मरुथल को जल का
जीवन दे सरसा डाले!

चरवाहों को सौंप दिया तब
उसने यह फैला ऊसर।
हुए धरा का लालच पा कर
खाल बनाने को तत्पर।

राजबहा बन गया और चिर
प्यासी धरती मुस्काई।
जहाँ कभी मरु था मुँह बाये
नव-हरीतिमा लहराई।

चिर-कौमार्य तोड़ धरती का
अपने हल की ठोकर से,
चरवाहों ने उस बर्बर को
राम किया† बल बर्बर से।

---

* खाल = रजबहा † राम किया = वश में किया।

औ' नन्हे नन्हे बरहों का
ऐसा जाल बिछा डाला,
छोड़ निपट मरु, सब धरती को
एक बार सरसा डाला।

ऊबड़-खाबड़ थी धरती जो
उसे बना डाला समतल।
जहाँ न तिनका भी उगता था
वहाँ लहलहा उठी फ़सल।

पर जो उपजा, पहुँचा उसका
अधिक भाग उसके घर में।
थी किसमत उन चरवाहों की
जिसके भाग्यवान-कर में।

किया परिश्रम रात-दिवस, दो
कौर मिले, संतुष्ट हुए।
सुख के साधन ज़मींदार के
किन्तु और कुछ पुष्ट हुए।

जोतें, बोयें और रहें, बस
इतना ही अधिकार उन्हें।
ज़मींदार स्वामी, इस पर भी
था धरती से प्यार उन्हें!



बढ़ते गये यहाँ खेमे औ'
बेलि वंश की बढ़ फूली।
चरवाहों की टोली अपना
सभी घुमक्कड़पन भूली।

वट के पास बसी बस्ती औ'
हुआ विजन का मौन मुखर।
फैल गये 'बेले' औ' 'बाड़े'*
जहाँ कि फैला था ऊसर।

भेड़, बकरियाँ, कुत्ते, बच्चे
रोता हँसता सा जीवन!
औ' उस जीवन की गति से था
मुखरित निर्जन का कण कण!

पुरुष चलाते हल औ' गट्ठे
फ़सलों के लाते सिर पर।
या फिर बाज़ी डाल, कमाने,
गाने जाते थे बाहर।

या फिर जाकर गाँवों में, दे
आते लोहे के बर्तन।
और शिराओं में राहों की
स्पन्दित था उन का स्पन्दन।

*बाड़े = जहाँ भेड़ बकरियाँ रहती हैं।

दाव लगे तो हथिया लेते
या जा कर धनियों का धन !
तभी गूँज उठती बस्ती में
कभी बेड़ियों की झन झन !

नाच उठा करती बर्बरता
कभी कभी इस ऊसर में !
द्वन्द्व लड़ाई औ' हत्याएँ
हो जातीं तब क्षण भर में !

(कब उकाब को बये सरीखा
नीड़ बनाना आ पाये ?
जंगल का सिंह इतनी जल्दी
कैसे गैया बन जाये ?)

और नारियाँ सूखी छड़ियाँ
बीन बीन लाने जातीं।
या विटपों के रूखे सूखे
पत्ते चुन चुन ले आतीं।

बरगद की बेटी

किसी आम जामुन या वट पर
लटकातीं झूले जाकर।
औ' शिशुओं को दुलरातीं वे
मधुर मधुर गाने गाकर।

या धरती में गाड़ ओखली
धान कूटतीं धमक धमक!
और चूड़ियाँ सस्ती मस्ती
में बज उठतीं खनक खनक!

संध्या को जलते चूल्हे औ'
लाल ललकतीं ज्वालाएँ;
उद्भासित हो उठतीं जैसे
सूने मरु की इच्छाएँ!

रक्तिम-नयन किसी तापस के
ज्यों सूने में खुल जाते!
चिर संचित अरमान भूमि के
या जैसे बाहर आते!

चिर दिन का बन्दी हो मुक्त
चला करता ज्यों सोया सा;
या ज्यों चलता है ठुकराया
प्रेमी खोया खोया सा;

इसी भाँति उठ चल पड़ता, सब
ज्ञान दिशाओं का तज कर,
धुआँ बिखर सोया खोया सा
छा जाता अवनी नभ पर !

या फिर एक लकीर क्षितिज में
बन जाती उस की जाकर !
या समीर के झोंकों से वह
उड़ता फिरता इधर उधर !

इन जगते जलते चूल्हों की
सोंधी सुधि मन में भर कर,
श्रान्त पुरुष दिन भर के लम्बे
पग धरते आते सत्वर !

और कभी चाँदी की रातों
में करते बेसुध नर्तन!
अणु अणु में धरणी के पैदा
हो उठती अभिनव सिहरन!

जीर्ण शीर्ण वस्त्रों में आवृत
पिंजर नग्न, विभुक्षित तन,
बन जाते उस क्षण के सुख में
महाधनी सारे निर्धन!

ढोल, मँजीरा; लुडडी, भँगड़ा*
गाने मधुर, मदिर, सुन्दर;
गीतों की लय पर उठते वे
पग धीमे औ' पग सत्वर!

गूँज उठा करता मीलों तक
उन गानों का उन्मद-स्वर!
चुप चुप कीकर† की शाख़ों में
चाँद लटक जाता आकर!

---

*लुड्डी, भँगड़ा = पंजाबी नाच। † कीकर = बबूल

लहरों इस नैसर्गिकता में
खेली, कूदी और बढ़ी।
मुकुलित औ' कुसुमित होकर नव-
लतिका सी परवान चढ़ी*

* परवान = बादबान का खम्बा; परवान चढ़ी = जवान हुई, फली फूली।

बरगद की बेटी

नवल प्रेम का फूल खिला जब
सिहरी लतिका सुकुमारी !
सभी अन्य पुष्पों से इसमें
कहीं अधिक सौरभ भारी !

सभी अन्य पुष्पों से इस में
मधुरस और पराग अधिक !
सभी अन्य पुष्पों से इसमें
थी जीवन की आग अधिक!

इसी फूल की धूलि उड़ी औ'
उड़ अनवर तक जा पहुँची।
कूंज* गगन में खोई सी ज्यों
अपने सर तक जा पहुँची।

---

* कूंज = जल पक्षी

अनवर था पीलन के स्वामी
ज़मींदार का सुत सुन्दर,
दिया जिसे जीवन ने अपने
यौवन औ' वैभव का वर।

शैशव ही से जिसे निरन्तर
सुख,सुषमा औ' हास मिला।
जिसे न जीवन की कटुता का
किंचित भी आभास मिला।

इच्छाएँ जिसके बचपन में
प्रकट हुई, कि हुई पूरी।
जिसने इच्छा और पूर्ति में
नहीं कभी जानी दूरी।

बरगद की बेटी

जिसके यौवन के इंगित पर
प्रस्तुत था सुख औ' वैभव
जिसके जीवन में भरती थीं
नव-रस इच्छाएँ अभिनव !

नहीं किनारा था जिनका वे
इच्छाएँ नव-यौवन की !
अस्थिर रहने वाली प्रतिपल
इच्छाएँ अस्थिर मन की !

तंग परिधि में कब गाँवों की
उनको भाता घुट रहना ?
चाह रही थीं, जीवन-नभ में
बंधन हीन मुक्त बहना !

उन इच्छाओं के पंखों पर
गया नगर को उड़ अनवर।
साध, कि देखे जीवन को औ'
पाये ज्ञान नया जी भर।

ज्ञान नहीं केवल वह, जो है
अन्तर्हित कुछ ग्रन्थों में !
ज्ञान कि जो है निहित जगत के
कुटिल रसीले पंथों में !

ज्ञान कि जो तृष्णा की ज्वाला
सहसा अधिक बढ़ा देता !
औ' अतृप्ति के पारद को जो
होकर तृप्त चढ़ा देता !

अनवर ने जा लिया नगर में
जी भर कर यह ज्ञान सभी !
पूरे हुए हृदय में उसके
जो भी थे, अरमान सभी !

सीख लिया उसने भावों को
अपने सहज छिपा लेना ।
और वासनाओं को भूषा
रागमयी पहना देना ।

बरगद की बेटी

मन के विष पर मृदुल हास का
मीठा रंग चढ़ा देना।
और मधुरता में वाणी की
सब छल कपट छिपा लेना

कॉलेज में अवकाश हुआ जब
आया अनवर पीलन में।
लिये नगर के रास-रंग की
गूँज दबी अपने मन में।

ऊबा ऊबा, उकताया सा,
फिरता था वह निर्जन में।
स्मृतियाँ भरे नगर की कौंधा
करती थीं उसके मन में।

धन के इस बिगड़े बेटे ने
मोह लिया लहरों का मन !
अल्हड़ चरवाही से उसका
छीन लिया सब अपनापन !

दिन थे वही कि जा पहुँची थी
वह यौवन के आँगन में
अनजाने मधु-ऋतु छाई थी
उस के जीवन-उपवन में।

अँगड़ाई ले जाग उठे थे
सहस पुलक, शत शत कम्पन।
अनिल-परस उत्पन्न लगा था
करने नित नव नव सिहरन।

मादक, मदिर, मधुर मद सा तब
उस के अंगों पर छाया।
सालस लालस अभिलाषा ने
उस के मन को अपनाया।

नीड़ बनाया उत्सुक उस के
उर में नयी उमंगों ने।
मानस का सागर मथ डाला
विह्वल, चपल तरंगों ने।

पीड़ा जाग उठी सोई सी,
खोई सी अनजानी सी।
और हृदय करने को आतुर
अपनी सी, मन मानी सी।

दूर कहीं खेतों में अनवर
तान उड़ाता मस्तानी,
लहराँ के पुलकित नयनों में
सहसा भर आता पानी।

तभी आप से आप एक दिन,
सँवर गये उस के कुन्तल ।
रूखी जमी हुई अलकें तब
सुलझ सँवर कर हुईं चपल ।

आँखों में डोरे, अनजाने
अरमानों के, दौड़ गये !
सीख लिये चितवन ने भी तब
नाज़ नये, अन्दाज़ नये !

गति ने नव-चंचलता पाई,
चंचलता ने नव-जीवन !
जीवन ने उल्लास-हर्ष-नव,
पुलक नया, नव-नव स्पन्दन !

मटमैले वस्त्रों ने उस के
पाया अभिनव आकर्षण !
और देह का सोना सहसा
दमक उठा बन कर कुन्दन !

उन्हीं दिनों उसकी सम-वय के
युवकों में आया अन्तर।
अनजानी अभिलाषाएँ कुछ
उन के उर में उठीं सिहर।

पा हल्का सा परस पवन का
फड़कातीं ज्यों डाल* अधर;
गूँज तनिक सी पा मेघों की
हो उठते ज्यों मोर मुखर;

देख उषा को बालकुटारे†
नभ में गाते फिरते ज्यों;
या फिर दीप शिखा के जगते
परवाने जल मरते ज्यों;

यौवन की ऊषा के जगते
प्रेम-विहग के गान जागे !
सरल युवा हृदयों में सौरभ-
स्वप्न-रँगे अरमान जगे !

कभी देखता जब लहरों को
रहमा तान उड़ा देता।
गीतों के वसनों में अपनी
साधों को लिपटा देता।

*डाल = डालियां। †बाल कुटारा = छोटी सी चिड़िया जो प्रातः काल आकाश की गहराइयों में तरारे भरती फिरती है।

नूरा निज उन्मत्त-दृगों की
अपलक प्यास बुझा लेता।
औ' संकोचशील नबिया निज
अचपल नयन झुका लेता।

मार्ग बना देता अलिया लख
उसे निकट, हँसते हँसते।
राजा जान बूझ कर उसके
रोक लिया करता रस्ते।

भार लिये ईंटों का सिर पर
हसना ठोकर खा जाता।
निज को सुन्दर कहने वाला
पीर बख़्श मुस्का जाता।

इसी भाँति मर मिटने के उन
युवकों में अरमान जगे!
उस जगते यौवन पर उन के
जल मरने को प्राण जगे!

लेकिन उन में ऐसा भी था
उस रुपसि का दीवाना।
जिस को ओछापन लगता था
प्रेम भाव यों दिखलाना।

ज़मींदार का ख़ास मुलाज़िम
सादिक़, सेवक अनवर का,
पागल था दूजे युवकों सा
लहरा की छवि मनहर का।

ऊँचा ऊँचा उस का मस्तक
चौड़ा चौड़ा वक्षस्थल।
सादिक चरवाहे युवकों में
सबसे सुन्दर और सबल।

उस के अंगों में तरुणाई
औ' बाहों में अद्‌भुत बल।
चौड़े चकले उस के सीने
के आगे पर्वत निर्बल।

बरगद की बेटी

वज्रपात हँसते हँसते सह
जाये जिस का वक्षस्थल।
वह गिरि भी उस रूप शिखा के
आगे सहसा उठा पिघल।

पिघल पिघल कर पर वह मानी
कब प्रेयसि की ओर चला,
होकर द्रवित सदा अपने ही
आतप में चुपचाप जला!

उस का अहम् कभी लहरों के
पास नहीं उस को लाया।
वह गर्वीला उस रूपसि से
कभी न आंख मिला पाया।

सदा दूर से उसे देखता
औ' चुपचाप बना रहता।
अलगोज़ों के आतुर स्वर में
उस का मूक-प्रणय बहता।

बुन देती जब जाल चांदनी
पेड़ों के पत्तों से छन;
जब कुछ तारों की आँखों में
सोता जगता नभ प्रति-क्षण;

हर्ष भरी नीरवता से जब
भर उठता नभ का कण-कण;
तभी सुलगती चाह लिये कुछ
ढूंढा करता उसका मन।

मटियाले भिनसारे में वह
भटका करता खेतों में।
संध्या को जा कभी लौटता
वीराने की रेतों में।

उसके अलगोजों की मादक
तानें आग लगा देतीं।
जिन पर बालाएँ पीलन की
हँस हँस जान बिछा देतीं।

बरगद की बेटी

उसको सम्मुख पाकर कोई
तन्वंगी मुस्का देती।
उर की उर में कोई बरबस
गहरी साँस दबा देती।

भेड़ बकरियों को टिटकारी
भर कोई गाने लगती।
कोई ऊँचे स्वर से अपने
शिशु को दुलराने लगती।

राजबहे पर हास किसी का
सहसा गूँज उठा करता।
झंकृत पायल की मधु-ध्वनिसा
अनायास मरु को भरता।

चुहलें जग उठतीं नव-वय की
मुस्कानें खिल खिल जातीं।
भेद भरे संकेत लिये मृदु
तब आँखें मिल मिल जातीं।

बरगद की बेटी

टीस किसी तन्वी के उर की
मुखर गीत में हो जाती।
चक्की पर बैठे बैठे वह
मधु-सपनों में खो जाती।

सादिक उन सपनों का राजा
वह तन्वी उसकी रानी।
यौवन की नदिया में पागल
अभिलाषाओं का पानी!

पर सादिक के सपने रहते
लहरों से भरपूर सदा।
जग में रह कर भी वह मानी
रहता जग से दूर सदा।

अनजाने की चाह इसी में
मानव का इतिहास निहित !
अनजाने की खोज इसी में
मानव का सुविकास निहित !

सदा उसी की तृष्णा मन को
नहीं इसे जो सुगम सरल !
चिर अतोष ही अमृत, तोष ही
शायद इसके लिए गरल !

इस अतृप्ति के बल ही से है
जग के कण कण में जीवन !
भंग भ्रुवों में, बल अंगों में,
सजग दिलों में है धड़कन !

औ' लहरों फिरती थी घन के
बेटे का अनुराग लिये !
मौन रूप से जलने वाली
उर में आकुल आग लिये !

उस के लिए विश्व था अनवर
सादिक का अस्तित्व न था।
हस्ती थी केवल अनवर की
सादिक का व्यक्तित्व न था।

रहे भँवर की इच्छा जिस को
तट की लहरें क्या जाने ?
जो उलझी नभ के तारों में
कब धरती को पहचाने ?

बरगद की बेटी

छोड़ संगियों को उड़ने की
जो रखती हो चाह प्रबल;
सदा बनाती हो सपनों के
जो दीवानी रंग-महल;

वह क्या जाने उसके संगी
भरते रहते हैं आहें!
और जगा करती हैं उनके
उर में मतवाली चाहें!

वह देखा करती अम्बर में
उदित हुआ है शशि सुन्दर।
हैं उडगन भी कहीं चमकते
इस की हो क्या उसे खबर?

औ तानें सादिक की उड़ उड़
असफल वापस आ जातीं।
उसके उर की तप्त रेत में
अपने आप समा जातीं।



पंछी भावाकुल फिरता है
जब आखेटक ने जाना,
जाल बिछा कर चतुराई से
फेंक दिया उसने दाना।

फड़ फड़ करता सा आया, खग
भोला उलझ गया तत्क्षण !
दुख का था आरम्भ जिसे वह
समझा सुख-मय नव जीवन !

इस महान वट ने देखा तब
पंछी का उल्लास मधुर,
आखेटक के आलिंगन में
बँध करते कल हास मधुर ।

सादिक के अलगोज़ों में भी
आया दुःख-भरा कम्पन ।
आशंका उसकी नस नस में
दौड़ गई बन कर सिहरन ।

अहम् भरे एकाकीपन में
उस के एक मची हलचल ।
और रो उठीं उसकी तानें
होकर क्षत-विक्षत, विह्वल ।

वट के भेद भरे सायों ने
सादिक की पीड़ा जानी ।
उस के पत्थर दिल को देखा
पिघल पिघल बनते पानी ।

वह पानी जो पलकों पर तो
दुख में कभी नहीं आता ।
पर अन्दर ही अन्दर चुप चुप
मानव जिसमें घुल जाता ।

संध्या को जब वट के नीचे
छिप अनवर लहराँ मिलते;
युगों युगों के साये से जब
वट की छाया में हिलते;

भूल जगत को हो जाते जब
वे दोनों गुम अपने में;
नये प्रेम के सुन्दर, मादक
मदिर, सुखद सुख-सपने में,

तब सादिक चुपके चुपके आ
छायाओं में छिप जाता।
कभी व्यंग्य औ' कभी व्यथा से
आकुल होकर मुस्काता।

व्यंग्य, कि उस पर खुली हुई थी
अनवर की उलफ़त सारी।
लहराँ का अंजाम हृदय में
भर देता पीड़ा भारी।

कभी ईर्षा कर उठती थी
तांडव उस के मानस में।
प्रतिहिंसा की आग कभी जल
उठती उसकी नस नस में।

एक साँझ ऐसे ही क्षण में
कौंध उठा उसका ख़ंजर।
एक चीख़ गूंजो, धरती पर
लोट गया घायल अनवर !

एक क्षणिक सी तड़प, अंत फिर
ऐसा कारी वार हुआ।
ख़ंजर जो कौंधा था उर में
अनवर के जा पार हुआ।

विद्युत सी फिर तड़पी, लहराँ
घायल और अचेत गिरी।
औ' फीकी सी रंगत उसकी
आकृति पर चुप चाप फिरी।

अरुणाभा उसके मुख की मिट
गोधूली सी श्वेत हुई।
बही लहू की धार रक्त से
रंजित मरु की रेत हुई।

लोहू की वह धार और वह
लहरों की फीकी रंगत।
घाव कर गई सादिक के उस
गिरि से सीने में शत शत।

फेंक हवा में खंजर सादिक
लौट पड़ा दीवाने सा।
दीप शिखा के बुझ जाने पर
भ्रान्त किसी परवाने सा।

वातचक्र सा जो लौटा हो
छूकर अम्बर का दामन।
या झंझा सा उड़ा चुकी हो
जो छत छप्पर औ' मामन।*

मामन = झोंपड़े

जाने वह, खोया है उसने
अपना सब अनजाने में,
इससे पहले पाया उसने
निज को बैठे थाने में।



क्षणिक क्रोध में जो अभिमानी
जीवन में विष घोल उठा ;
वह चुप रहने वाला सादिक
थाने में जा बोल उठा ;

"सुनो न्याय के पहरे दारो,
सुनो सुनो मैं हत्यारा ।
अभी अभी मैं ने उस कपटी,
दम्भी अनवर को मारा ।

"उस बिसधर के बच्चे का है
मैं ने गला मरोड़ दिया !
डंक मारता जिस से, उसका
दान्त सदा को तोड़ दिया !

"कुचल दिया सिर उसका जिसमें
झूम रहा अभिमान प्रबल !
चाह रहा था अनाचार जो
करना निज वैभव के बल !

"साहस उसका, चरवाहों के
घर में आग लगाये वह !
भोली भाली चरवाही को
धन के बल बहकाये वह !

"पागल कर देता था उसका
गर्व-भरा उल्लास मुझे ।
कर देता मैं ख़त्म कभी, था
ज़रा नमक का पास* मुझे ।

"इज्ज़त धनवानों की है क्या
निर्धन का कुछ मान नहीं ?
निर्धन का अपमान भला क्या
निर्धन का अपमान नहीं ?

"चरवाहे निर्धन हैं तो क्या
प्यारा उन को मान नहीं ?
संकट में हो मान रहे तब
जीवन का कुछ ध्यान नहीं ?

"औ" वह लहराँ सोच रही थी
पंख लगा लेगी सुन्दर !
निर्धनता की अंध-गुफा तज
उड़ जायेगी अम्बर पर !

---

*नमक का पास था = नमक खाया है, इसका ध्यान था ।

"ज़मींदार के राज-भवन की
छत पर जाकर बैठेगी !
प्रेम-स्वप्न के सोन-महल में
सुख से जी भर बैठेगी !

"उसे नहीं मालूम, काट कर
पंख छोड़ देता अनवर !
उस के प्रेम-भरे वे सपने
सभी तोड़ देता अनवर !

"नुचे पंख ले; सुख-सपने खो
वह मुँह के बल गिर जाती।
उड़ी जहाँ से थी अपने को
उस से भी नीचे पाती।

"धनी और निर्धन में कैसा
प्यार, कहो कैसी उलफ़त ?
उसका मन बहलावा है औ'
इस की जाती है इज्ज़त !

उसे निराशा के चिर-बंधन
से कर मैंने मुक्त दिया।
छुरा नहीं उसके भोंका, निज
अरमानों का ख़ून किया।

"चाह नहीं मुझ को जीने की
मुझे नहीं मरने का डर।
अभी मार दो गोली या तुम
मुझे चढ़ा दो फाँसी पर।"

यह कह सादिक बैठ गया चुप
बंदी घर में जाने को!
तभी सिपाही भागा झट पट
थानेदार बुलाने को!

ज़मींदार के घर पर मुजरा
सुरा, सुराही औ' प्याले।
और नाचने वाली बाला
यौवन का आसव ढाले।

नयनों ही की नहीं, तृषा तब
श्रवणों की भी मिट जाती।
मधु-मय ओठों से गीतों का
जब वह मधु-मद बरसाती।

गाते गाते जब पायल की
देती वह झंकार मधुर।
नयन थिरकते, जाम छलकते
करतल-ध्वनि से मौन मुखर।

सारे अफ़सर वहाँ उपस्थित
थे पी पी कर मतवाले।
औ' कुछ नाच रंग के माते।
देहाती भोले भाले।

इन का धन था ज़मींदार
दिल खोले जिसे उड़ाते थे।
इन का ख़ून पसीना था, वे
मद में जिसे बहाते थे।

थी ज़मीन इन खेतिहरों की
स्वामी वह कहलाते थे ।
औ' जो स्वामी थे, वे बैठे
जूतों में सुख पाते थे ।

"तुम धरती के स्वामी हो, क्यों
सदा निरादर सहते हो ?
औरों का भर पेट आप क्यों
भूखे नंगे रहते हो ?

"साज संग यह सभी तुम्हारा"
कौन उन्हें यह समझाता !
"राग रंग यह सभी तुम्हारा"
कौन उन्हें यह बतलाता !

"एक विभूषित सिंहासन पर
एक चिरौरी करता है।
एक फेंकता है कुत्तों को
दूजा भूखों मरता है ।

"विधना के हैं खेल निराले"
यों मन को समझाते थे।
औ' रह भूखे पेट नयन की
भूख मिटाने आते थे।

उधर उठी हल्की समीर
काले मेघों से खेल चली।
औ' रुन झुन पायल की रस के
सागर इधर उँडेल चली।

मदिर कंठ से बोल उठे मधु
उर में मदिरा घोल चले।
उठे नशीले जाम दिलों की
उलझन सारी खोल चले।

बरगद की बेटी

रंग रँगीला समां बँधा था
ज़मींदार मदमाते थे ।
भर भर पीते थे, औरों को
बरबस संग पिलाते थे ।

थाने के पति ऐसे में, जी
भर कर मौज उड़ाते थे ।
बाड़ यदपि थे, पर खेती को
दोनों हाथों खाते थे ।

तभी सिपाही थाने से यह
पहुँचा दुखद ख़बर लेकर—
"उस चरवाहे सादिक ने हैं
मार दिये लहराँ, अनवर !"

"अनवर," ज़िमींदार तब चौंके
"अनवर—अरे कौन अनवर?"
थाने के पति चीखे, "क्यों बे
क्या इन के बेटे अनवर ?"

"जी हुजूर !" हरकारा बोला,
उन को मारा सादिक ने।
लहराँ से था प्रेम, इसी का
क्रोध उतारा सादिक ने।"

राग रंग सब थमा, मूकता
ऐसी महफ़ल पर छाई,
गाने वाली के ओठों पर
जमी रह गई अस्थाई !

अभी अभी पहली निद्रा में
महा-तपस्वी सोया था ।
अगनित नीड़ों के खग-बालों
सा सपनों में खोया था ।

कठिनाई से क्षण भर पहले
वट ने आंखें मीची थीं ।
औ' सुधियों की लम्बी बागें
कठिनाई से खींची थीं ।

तभी मशालें चमकीं सहसा
उस की छाया के नीचे ।
कोलाहल में रह न सका वह
और अधिक आँखें मीचे ।

नयन खोल कर देखा उसने—
ज़मींदार को घबराये,
संग लिये आते कुछ साथी
खिन्न-म्लान, कुछ मुरझाये !

देखा—चला आ रहा है वह
हिंस्र बाघ ज्यों क्षत-विक्षत !
मार्ग ढूंढता और न पाता
अंध-सर्प ज्यों हो आहत !

ले मशाल फिर झुकते देखा
उस को अनवर के शव पर।
औ' कहते पाया अस्फुट से
स्वर में, 'ओ बेटा अनवर'!

अनवर—वह तो पड़ा हुआ था
जैसे मुरझाया सा दल।
उस के गर्म-रक्त को पी कर
मरुथल की मिट्टी शीतल।

जल कर दीपक की आभा में
जैसे निष्प्रभ शलभ चपल।
कर्दम में हो मिला हुआ ज्यों
टूट वृंत से नीरज-दल।

ज़मींदार ने छुआ उसे, फिर
छुई रक्त से रेत सनी।
बेध हृदय को पार हुई ज्यों
उस के विष में बुझी अनी।

अन्तस्तल की गहराई से
उस के दुर्धर आह उठी।
तभी पास में मृत-वत लेटी
लहराँ तनिक कराह उठी।

"यह नागिन जीती है अब भी?"
जमींदार यों चिल्लाया।
अश्रु-सिक्त आंखों में उस की
सहसा रक्त उबल आया।

"इस नागिन ने आग लगादी
मेरे हँसते उपवन में!
फूंक दिया विष इस नागिन ने
मेरे सुख-मय जीवन में!

"चरवाही औ' ज़मींदार के
बेटे से अनुराग करे!
पैरों की मिट्टी रानी की,
चाहे, उड़ कर माँग भरे!

"औ' यह अनवर इस को मैं
हूरों सी दुल्हन ला देता!
नदी किनारे शीश महल मैं
सुन्दर एक बना देता।"

"बाग़ वाटिकाएं तज कर यह
बरगद के नीचे आया।
प्यार कमीनी चरवाही से
इस बदकिस्मत को भाया।"

"औ' वह पाजी सादिक, मैं ने
उस को सदा भला जाना।
उसको ही इन चरवाहों में
मैंने वफ़ादार माना।"

"उसे नहीं, उस के कुनबे को
रोटी दी औ' काम दिया।
उस हरामज़ादे ने मुझ को
इस का यही इनाम दिया।"

"दूध पिलाता हूं मैं, यह क्या
मुझे खबर थी, बिसधर को !
दिन पाकर काटेगा मेरे
दिल के टुकड़े अनवर को !"

थाने के पति बोले, "सादिक
नहीं अकेला हत्यारा,
इन साले चरवाहों ने कर
साज़िश, अनवर को मारा।"

"ज़रा देखिए साज़िश का मैं
कैसे पता लगाता हूं।
छिन में इस लहरा के सारे
यार पकड़ मँगवाता हूं।"

"ओ नूरे ला खाट, उठायें
हम अनवर की लाश, इधर !
ला मशाल, देखें जीती या
ख़त्म हुई बदमाश, इधर !"

क्षीण-ज्योति में ज़मींदार ने
तब देखा उजला यौवन,
लहरां का वह कुन्द-कली सा
अनुपम, दूध-धुला यौवन,

रक्तिम सांध्य सेज पर जैसे
दिन की द्युति हो कुम्हलाई।
रक्त-सनी शय्या पर लहराँ
पड़ी हुई थी मुरझाई।

अरुणा सा मुख उस का पीला
रक्त-स्राव के कारण था।
अस्त-व्यस्त वस्त्रों में उस के
अस्त-व्यस्त सा यौवन था।

सादिक के ख़ंजर का बायें
कंधे पर था घाव बड़ा।
खुली हुई बंडी से अंबुधि
उर का उमड़ा औ' उघड़ा

अस्फुट, सहमे, डरे हुए स्वर
में, ओठों पर था "अनवर।"
जाने क्यों तब पिघल उठा उस
ज़मींदार का उर बर्बर।

लम्बी सांस उठी ओठों से,
स्वर में अजब नमी आई।
ली धुँधली सी अभिलाषा ने
उस के उर में अँगड़ाई।

बोला वह तब, "अनवर ने है
इस लहराँ से प्यार किया।
नीच सही, पर इसे गले का
उस ने अपने हार किया।

"अनवर की यह प्रेयसि थी, इस
नाते बहू हमारी है।
अनवर को जब प्यारी थी तो
हम को भी यह प्यारी है।"

थाने के पति बोले, "जी हाँ
आप बजा फ़रमाते हैं।
अभी इसे आराम सहित हम
अस्पताल पहुँचाते हैं।

अनवर का यह प्यार, भला हम
नष्ट इसे होने देंगे!
फ़िक्र न कीजे, नहीं जरा भी
कष्ट इसे होने देंगे!"

"लेकिन ये चरवाहे, साज़िश कर
जिन अनवर को मारा?"
"ख़ातिर रखिए जमा बचेगा
नहीं एक भी हत्यारा!"

बरगद की बेटी

खाटें उठीं, मशालें पल पल
बरगद से हो दूर चलीं।
औ', महान वट की आँखें हो
निद्रा से भरपूर चलीं।

देखा वट ने ज़मींदार को
अपनी बर्बरता खोते।
औ,' उस बर्बरता को देखा
करुणा में परिणत होते।

व्यंग्यमयी मुस्कान एक तब
उस के ओठों पर छाई
पुनः खो गया स्वप्न-लोक में
बरगद ले कर अँगड़ाई।

प्रातः ने जब पलकें खोलीं,
पीलन के इस ऊसर में,
'त्राहि' 'त्राहि' तब मची हुई थी
चरवाहों के घर घर में।

लहराती बल खाती फ़सलों
पर टूटे ज्यों टिड्डी-दल;
या अकाल बन महाकाल, हो
जीवन का घातक अविचल;

रसी-बसी दुनिया का जैसे
जल-प्लावन अवसान करे;
चले महामारी औ,' कस्बे,
गाँव, नगर वीरान करे;

अम्बर के आँगन में गाते
खग-बालों की ज्यों टोली,
क्षत-विक्षत हो बिखरें जैसे
खा आखेटक की गोली।

चली पुलिस की आँधी, उसने
ऐसे पीलन को घेरा,
पलक झपकते बिखर गया सब
उन चरवाहों का डेरा—

बरगद की बेटी

जो इतने वर्षों में दिन दिन
फैला, बढ़ा, फला फूला।
जिस के श्रम से ऊसर, उर्वर
बन, अपनी विपदा भूला।

जिस के श्रम से तप्त बयार को
हरियाली में त्राण मिला।
भाँति भाँति की फ़सलें पाकर
ऊसर को अभिमान मिला।

ज़मींदार को राशि राशि धन
वैभव औ' सम्मान मिला।
पत्थर से जल मिलने का सा
मरु से उसे लगान मिला।

किन्तु लगी थी दृष्टि कई अब
जाटों की इस धरती पर।
चाह रहे थे राशि राशि कर
देकर हथिया लें उर्वर।

चिर-दिन से था ज़मींदार भी
सतत बहाने ढूंढ रहा—
जिस धरती पर चरवाहों का
लहू पसीना सदा बहा

उन से हथिया कर, उसमें फिर
नये किसान बसा डाले।
लौह-तिजोरी में सोने की
मात्रा और बढ़ा डाले।

अनवर की हत्या ने उस को
दिया बहाना मन-चाहा।
बढ़ीलोभ की ज्वाल, हुआ सब
उन चरवाहों का स्वाहा।

गाज रूप में गिरी पुलिस के
उजड़े चरवाहों के घर!
वर्ष लगे थे जिन्हें बसाने
उजड़ गये वे छत छप्पर!

रहमा, नूरा, नबिया, अलिया
पहुँचे बन्दीख़ाने को।
राजा, पीरू भाग गये तब
अपनी जान बचाने को।

सादिक के हाथों में कड़ियां
पैरों में बेड़ी भारी,
होने लगी उसे फांसी पर
पहुँचाने की तैयारी।

बहुत दिनों तक चला मामला,
तर्क, वितर्क हुए काफ़ी,
किन्तु एक भी चरवाहे को
नहीं न्याय ने दी माफ़ी।

सादिक फांसी चढ़ा, गये कुछ
गबरू काले पानी में।
अन्य युवक जेलों में, सड़ने
को इस भरी जवानी में।

उन के चिन्ह मिटे पीलन से
जैसे बुदबुद पानी में।
याद बची केवल उन की, उस
करुणा भरी कहानी में—

गांवों के अलबेले जिस को
सांझ सवेरे गाते हैं।
औ' जिस में अपने जीवन का
मधु-विष सदा मिलाते हैं।

पर यह गाथा, जिसके कारण
फैली पीलन के घर घर,
जिसके कारण उजड़ गया फिर
रसा बसा उर्वर-ऊसर,

घाव भरे तो उस ने देखा
वह तो है लाचार बड़ी !
बीच जगत के औ' उस के है
लोहे की दीवार खड़ी !

वह दीवार कि जिस के बाहर
जीवन का उन्मद-सागर,
औ' जिस के अन्दर बंधन में
रुका, बँधा पंकिल-पोखर !

वह दीवार क्रूर थी पीलन
के उस स्वामी की छाया,
जो लहराँ को 'अनवर प्रेयसि'
कर घोषित घर ले आया !

ज़मींदार की वृद्ध नसों में
दौड़ा रक्त जवानी का,
उसी दिवस आरम्भ हुआ
लहराँ की करुण कहानी का!

वर्षा ऋतु की रात झिलमिले
बादल अम्बर पर छाये ;
औ' पूनो का शशि पर्दे से
उन के चंचल मुस्काये;

उजला धुँधलापन, बून्दनियाँ
गिरती नज़र नहीं आयें,
पर फुहार के संग कण के
कण कण में यों बस जायें—

जैसे कभी कभी मन का सुख
निकल हृदय-स्तर से बाहर,
बस जाता है गृह वन में औ'
छा जाता भू-अम्बर पर।

चले वात कुछ ऐसी चाहे
मन, अम्बर में उड़ जाये!
नहीं हुआ जो, होकर पूरा
नयनों के सम्मुख आये!

धीमा धीमा अनिल-परस यों
रोमावलि को उकसाये।
अजब गुदगुदी सी अंगड़ाई
लेकर तन में जग जाये!

सजे बजे चौबारे में चल-
दीपक के उजियाले में,
फिरफिर मदिरा ढाल रहाथा
पीलन का पति प्याले में।

थी इस मादक ऋतु में उसके
मन में हलचल मची हुई।
एक अजब आतुरता उस की
नस नस में थी रची हुई।

सुप्त पड़ी इच्छाएं सहसा
उस के मन में जाग उठीं।
वृद्ध नसें, निज वृद्ध रक्त में
ले अभिनव अनुराग उठीं।

बरगद की बेटी

वट के नीचे की वह संध्या
मानस में फिर फिर आती।
झांकी उन्नत, अवसन उरकी
नयनों में घिर घिर छाती।

जब मशाल के धुँधलेपन में
चमक उठा था विद्युत सा।
लहराँ का दायाँ उरोज वह
उन्नत और वसन-च्युत सा।

जैसे कोई मीठा सपना
फिर फिर, बार बार आये,
जैसे कोई मादक घटना
नयनों में छा छा जाये,

वह झाँकी पीलन के स्वामी
को दिन रात सताती थी।
नयनों में जब आती, उर में
नयी आग सुलगाती थी।

घाव भर चुके थे लहरां के,
गया रक्त फिर आया था।
और ज्वार यौवन का उस के
अंग अंग पर छाया था।

उर पर चुनरी दुहरी तिहरी
पर तूफ़ान दबे क्योंकर ?
ज़मींदार के उर-अम्बर पर
छायें प्रति पल उभर उभर !

भरा, अछूता वह यौवन था
पके हुए सुन्दर फल सा।
तपे हुए सोने सा निर्मल
कोमल नीरज के दल सा।

वर्षा की वह रात, गात वह
लहरों का, उस का यौवन ,
ज़मींदार की मदिर-कल्पना
में आ, करता विचलित मन !

उस की हर रेखा आंखों में
अनायास छा छा जाती ।
वट के नीचे की वह झांकी
बार बार सम्मुख आती ।

चाहे वह, आंखों से, मदिरा
पी पी, उसे हटा डाले ।
यह विकार मन का सागर में
मद के तुरत डुबा डाले ।

पर जैसे लहरों में कोई
नौका उभर उभर आये;
औ' सागर के प्रबल-ज्वार में
डूब डूब कर उतराये;

वह झाँकी भी ज़मींदार के
ज्वारोद्धत मन-सागर में,
डूब उतरती कभी कभी, ज्यों
चंचल चपला अम्बर में।

अन्त छोड़ कर द्वन्द्व और भर
मदिरा का अन्तिम प्याला,
ज़मींदार चल दिया कक्ष को
लहरीं के, मद-मतवाला।

बरगद की बेटी

चाँद झाँक कर मेघों से फिर
अंधकार में लीन हुआ।
औ' फिर उजियाला आँगन में
नभ के क्षण क्षण क्षीण हुआ।

ज़मींदार की भव्य हवेली
में वह बन्दिनी सी बाला,
वातायन से देख रही थी
तिमिर मिला यह उजियाला।

उसकी जीवन-ज्योत्स्ना में भी
मेघ घुले ऐसे काले,
तिमिराच्छन्न हुए जीवन के
सारे सपने उजियाले।

वातायन में स्मृतियों के वह
बैठी हार पिरोती थी।
एक एक कर सुखद-क्षणों के
पुष्प सयत्न सँजोती थी।

सुखद क्षणों के, जिन पर जीवन
सौ वर्षों का बलिहारी !
औ' जिनके प्रत्येक निमिष पर
जीवन का यौवन वारी !

जिनके बल जीवन भर दुख के
याम बिताये जाते हैं !
मुस्कानों के पर्दे में उर-
घाव छिपाये जाते हैं !

भेद तमिस्रा वर्तमान की
स्मृति करती जिनकी दीपित,
वे पथ, जिनमें कर रखती है
क्रूर नियति कंटक संचित !

वह जीवन जो मुक्त पवन सा
और विशाल गगन जैसा;
जीवन सा जीवन जो व्यापक,
शक्त प्रकृति के मन जैसा;

जिसकीगति-विधि शाश्वतअविरल
निर्मल जो उज्वल जल सा;
जो अबाधसागर सा,ध्वनि सा,
विद्युत सा, बादल दल सा;

प्रवहमान थीं आशाएं जिस
जीवन-सागर में पल पल;
औ' पतवार स्पृहा की लेकर
रहता मन जिस में चंचल !

वह जीवन अब स्वप्न हुआ औ'
सपनों से भी दूर चला।
यह जीवन कर मन को उसके
थकित, शिथिल औ' चूर चला!

बैठी वातायन में गुम थी
वह उस बीते जीवन में!
भूला भटका सा राही ज्यों
गुम दुर्गम बीहड़ बन में!

तभी अंबुधर के पीछे से
शशि हल्का सा मुस्काया।
अँध्यारे के उन्मन ओठों
पर उजियाला सा आया!

औ' हल्की सी तन्द्रा लहरों
के घन-पलकों पर छाई!
स्वर्ण-छड़ी लेकर तब नभ से
स्वप्न-परी नीचे आई!

देखा लहरों ने उपवन औ'
उसमें सुन्दर सौध-धवल !
लता, पेड़, पल्लव नहलाती
पूनम की चांदी निर्मल !

शान्तस्निग्धस्वप्निल वेला औ'
श्वेत, शुभ्र छत मरमर की !
मौन रूप से सुनती है वह
मुग्धा बातें अनवर की !

अनवर शहज़ादा है, रण से
विजय-लाभ कर आया है।
औ रण की विस्मय-कर बातें
उसे सुनाने लाया है।

चन्द्र अतन्द्र अनवरत नभ से
रस के जाम लुँढाता है।
औ' अपूर्व सुख का अनुभव मन
लहरों का सरसाता है।

तभी विलार बघेले सा कुछ
धीरे धीरे आता है।
विस्मय, मूषक राज पलक में
वह अनवर बन जाता है।

तीक्ष्ण खड्ग लाने को उठती
है वह क्रोध भरी सत्वर।
तभी रोक लेता है उसको
भीम-काय सेवक बर्बर।

अट्टहास कर हँसउठता वह
वन्य-विलार भयानक सा।
चौंक देखती है लहरों, वह
बन जाता है सादिक सा।

व्यंग्य तीक्ष्ण उसकी आँखों में
उसके ओठ रक्त रंजित,
मोड़ उपेक्षा से मुँह लहरों
होती देख और विस्मित,

जिसे समझती थी सेवक, वह
ज़मींदार है पीलन का।
और हवेली है वह उसकी
सुन्दर राज-सदन वन का।

आँखें खुल जाती हैं उसकी
धक धक करती छाती है।
ज़मींदार के बाहु-पाश में
वह अपने को पाती है।

मदिरा की दुर्गन्ध-अंध
उसके ओठों से आती है।
किं-कर्तव्य-विमूढ़ा सी वह
क्षण भर को रह जाती है।

"न्योच्छावर तेरे क़दमों पर
प्यारी, मेरा धन दौलत !
न्योच्छावर तेरे क़दमों पर
मेरी सब इज़्ज़त, अज़मत* !

"तू चाहे, तो पीलत तेरे
पद-पद्मों पर झुक जाये !
दास दासियों की सेना, तू
दृष्टि उठाये, रुक जाये ।

"तू चाहे तो ख़ादिम तेरा,
ज़मींदार यह बन जाये।
एक बार आकर वह दर पर
तेरे बार बार आये ।

"सुख-सम्पद धन-वैभव तेरे
आ हुज़ूर में झुक जायें !
दुख के काले बादल तेरे
जीवन-नभ से लुक जायें† !"

*अज़मत = महानता ।
†लुक जायें = लुप्त हो जायें ।

बकता जाता ज़मींदार यों
सहलाता उस के कुन्तल।
लहरों के मुख-चुम्बन को, मुख
उस का बढ़ता था प्रति-पल!

बढ़ता उस का वक्ष-भार उस
बैठी तरुणी के उर पर।
तभी घृणा मन की लहरों के
आई जैसे सभी उभर!

और उचक कर एक चपत उस
अंध शराबी के मुख पर
तड़ से जड़ दी चरवाही ने
विद्युत की गति से द्रुत-तर।

सिंहनि सी वह उठी, गिरा तब
ज़मींदार चित धरती पर।
अम्बर में क्षण भर को आया
चाँद बादलों से बाहर।

ज़मींदार मद-अंध उठा, फिर
कामी उस की ओर चला,
तभी सबल लहरों के हाथों
में था उस का पीन गला।

चाँद छिपा फिर बादल में, फिर
अंधकार गहरा छाया।
साथ पवन के एक तरेरा
वर्षा का अन्दर आया।

क्रोध भरे जब हाथ हुए कुछ
ढीले, लहरों ने जाना—
ज़मींदार के जीवन का सब
टूट गया ताना बाना।

चली, रुकी फिर, देखा क्षण भर,
निश्चल है कामी पामर,
घनी उपेक्षा से फिर उस ने
थूक दिया उस के मुँह पर!

और बगूले सी वह निकली
तज कर सोने की कारा,
लौह शृंखलाओं से बढ़ कर
था जिस का सोना सारा।



आत छूटे बादल, अरुणा ने
घर घर यह संदेश दिया—
पीलन के कामी का लहराँ
ने है काम तमाम किया!

तभी पुलिस के कुत्ते भागे
सूंघ, ख़बर उसकी लाने,
भरसक फांसी तक उस सबला
चरवाही को पहुँचाने !

कोना कोना भव्य-भवन का
छाना, छाने वीराने।
कई मुलाज़िम ज़मींदार के
बरबस पहुँचाये थाने।

मचा बहुत कुहराम गाँव में
उन लोगों की शामत थी।
इस या उस कारण थाने के
पति को जिन से नफ़रत थी।

जितने मुँह उतनी बातें, मन
जितने उतने ही स्वर थे।
ज़मींदार के वध के चरचे
पीलन भर में घर घर थे।

तभी, कि रंग लगा था चढ़ने
जब इस करुण कहानी पर,
लहरों का शव दीख पड़ा
जौहड़ के गदले पानी पर।

चरवाहों की उस बेटी को
क्यों भाता यों घुट रहना ?
ज़मींदार की कामुकता के
सागर में तृण सा बहना।

जंगल की उस मुक्त-मृगी को
ये सब कड़ियाँ भाती क्यों ?
नभ में गाने वाली चिड़िया
धरती पर बँध, गाती क्यों ?

सुमन सुभग उस के मानस का
उस बंधन में खिलता क्यों ?
मार अनाचारी को मरने
में, न उसे सुख मिलता क्यों ?

लम्बा कारावास जेल की
चुप चुप सुलगन क्यों भाती ?
क्यों न एक ज्वाला सी उठ कर
वह स्वतन्त्र-मन बुझ जाती !

तभी चले पीलन के वासी
अपना पीर मनाने को ;
भरे झोलियाँ, लिये न्याज़ें,
उस की भेंट चढ़ाने को ।

कुर्बानी ले चरवाही की
बला टाल दी पीलन की ।
अवधि बढ़ा दी सहसा जिसने
किसी युवक के जीवन की ।

बरगद की बेटी

पीलन के सिर से था जिस ने
कोप पुलिस का टाल दिया।
ज़मींदार का सहम हृदय से
सबके सहज निकाल दिया।



उस महान वट के नीचे जो
सदियों से चुपचाप मगन,
देखा करता है धरती के
बेटों का उत्थान पतन;

नन्हे नन्हे से दीपक ले
अपनी आभा को सस्मित,
पल पल जगते पल पल बुझते
हैं जिस ने देखे अगनित ;

उदित हो रहे नभ में देखे
हैं जिस ने शत शत तारे,
और कहीं फिर टूट टूट कर
गुम हो जाते बेचारे ;

देखा जिस ने चकाचौंध कर
विद्युत को लय हो जाते ;
साँध्य उषा की सेजों पर
रवि-शशि को देखा सो जाते;

जिस ने देखा तूफ़ानों का
प्रलय मचाता कोलाहल ;
और बगूलों के जीवन की
देखी सब जिस ने हचलल ;

बरगद की बेटी

देखा जिस की आँखों ने इस
मानव का उत्थान-पतन ;
देखा उस उत्थान-पतन में
गतिमय मानव का जीवन;

उठउठ कर गिरने में, जिसने,
मानव को बढ़ते देखा।
जिसके मानस पर अंकित है
उसकी गति-विधि का लेखा।

अट्टहास जिसके कानों ने
सुना, सुना जग का क्रन्दन ;
जिसके अन्तर ने पाया सब
जगती का कम्पन, स्पन्दन ;

उस महान वट के नीचे
छाया रहती है जहाँ सघन,
जहाँ न दिन को भी जाती है
कभी ज्योति की एक किरण,

बरगद की बेटी

वहीं एक मिट्टी की ढेरी
घास-पांत में खोई है।
जिस के नीचे वर्षों से वह
सुन्दर लहराँ सोई है।



कभी कभी जब ऊबा ऊबा
थका थका मन होता है;
औ' पश्चिम में ज्योति तिमिर के
मिलने का क्षण होता है;

वक्षस्थली से दूर क्षितिज की
नभ में छींटे उड़ते हैं,
पीत दिशाओं के आँचल जब
अंधकार से जुड़ते हैं;

भूले बिसरे वर्षों की तब
याद अचानक आती है।
औ' लहरों की करुण कहानी
आँखों में फिर जाती है।

सोचा करता हूँ कब होगा
इतना संस्कृत यह जीवन ?
जब नारी को मिल जायेगा
उस का खोया अपनापन !

वह अपनापन जो कि पुरुष ने
जाने कब उस से छीना,
और कर दिया कठिन उसे निज-
इच्छा से मरना जीना ।

हासिल कब होगा सदियों से
खोया निज-अधिकार उसे ?
और मिलेगा आदर, श्रद्धा,
संगिनि का सा प्यार उसे !

जहाँ कि लहराँ सी विद्रोहिनि
पायेगी सुखमय-जीवन !
नहीं उसे अपनाना होगा
जल मरना या डूब-मरन !

जहाँ कि पीलन-पति से शोषक
को होगा रहना दूभर !
औ' चरवाहों से श्रमिकों का
ऊँचा होगा जीवन-स्तर !

तभी जटा वट की बनती सी
एक तना, धरती छूकर,
कहती है जैसे आगत का
ज्ञान सभी अपने में भर—

"एक नया युग आने को है
शोषण है मिट जाने को!
औ' जग उत्पीड़न के बदले
एक नया सुख पाने को!

जिसमें शोषक-शोषित, नारी-
नर में फिर होगी समता!
जिसमें जीवन के प्रति होगी
मानव मानव में ममत...

वृद्ध नयन क्या मेरे अभिनव
देख सकेंगे वह जीवन
जगती की वह नूतन करवट
जगती का वह नव-स्पन्दन!

यही सोचता हूँ औ' चुप चुप
छा जाता है अँधियारा ।
मुझे लालने को आता यह
लगता है ऊसर सारा ।

छड़ी उठा लेता हूँ मैं फिर
ऊसर को तज देता हूँ ।
मौन रूप से फिर चिर परिचित
उस पथ पर हो लेता हूँ—

होकर राजबहे से जाता
जमींदार के जो घर को !
जो सलाम सा करता जाता
आगे पीर दिलावर को !

वह पथ सीधा ले जाता है
फिर मुझको मेरे घर में ।
छोटे पर विशाल उस मेरे
घुटे घुटे से ऊसर में !